हिंदी
नवलेखन
रामस्वरूप चतुर्वेदी
भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

हिन्दी ध्वलेखन

ज्ञानपीठ लोकोदय-ग्रन्थमाला हिन्दी-ग्रन्थाङ्क—१२६

सुषमा के लिए

हिन्दी नवलेखन

रामस्वरूप चतुर्वेदी

भारतीय ज्ञानपीठ • काशी

प्रस्तुत कार्य नवम्बर १९५६ में प्रारम्भ हुआ था और १९५८ के वर्षान्तमें समाप्त हो सका। अपने समवर्ती साहित्यके बारेमें कुछ लिखना ख़तरेसे खाली नहीं होता, यह जानते हुए भी मैंने इस जोखिमको स्वीकार किया है, विशेष रूपसे इसलिए कि मैं इस जनश्रुतिको नहीं मानना चाहता जिसके अनुसार समकालीन रचनात्मक उन्मेषको ठीक-ठीक नहीं परखा जा सकता। इस कृतिके प्रकाशनसे यह मिथ टूट सकी है, इसका निर्णय स्वभावतः मुझे संप्रति अपने समवर्तियोंपर छोड़ना होगा और फिर काल तो सबसे बड़ा आलोचक होता ही है।

'हिन्दी नवलेखन'के माध्यमसे मैंने आधुनिक साहित्यको उसकी संपूर्णतामें देखनेकी चेष्टा की है। अभी तक नयी कविताका विवेचन अधिक हुआ है, अन्य माध्यम प्रायः उपेक्षित रहे हैं। समग्र नये साहित्यके लिए एक संपृक्त और तदनुकूल नयी दृष्टिका प्रयोग शायद प्रथम बार इस कृतिमें देखनेको मिलेगा। व्यावहारिक समीक्षाके अंश मेरे साहित्य-चिंतनके सिद्धांतोंको स्पष्ट और पुष्ट कर सकें, ऐसा यत्न मैंने किया है। हिन्दीके व्यापक साहित्यके आधारपर उसका एक अपना व्यवस्थित समीक्षा-शास्त्र विकसित हो सके, इसके लिए किसी ऐसे ही प्रारम्भकी आवश्यकता थी। यदि वह पूरी हो सकी हो तो यह इस ग्रन्थका अतिरिक्त सौभाग्य होगा।

समवर्ती साहित्यकी मीमांसामें चिंतन-पद्धतिकी एक ताज़गी हो सकती है, क्योंकि उसकी सृजन-प्रक्रिया कृति-साहित्यके साथ-साथ चलती है। पर समीक्षाकी इस नयी सृजनात्मक प्रणालीमें अपूर्ण रह जानेकी भी उतनी ही संभावनाएँ निहित हैं। इस दृष्टिसे प्रस्तुत विवेचनमें जो कमियाँ होंगी उनमें-से अधिकांश रचनाकी अपनी मौलिक प्रकृतिके कारण हो सकती हैं।

इससे अधिक भूमिका शायद अपेक्षित न हो। यों तो सारा ग्रन्थ ही भूमिका है आगे आनेवाले श्रेष्ठतर और पूर्णतर साहित्य-चिंतनके लिए।

प्रयाग
२६ नवंबर '६०

—रामस्वरूप चतुर्वेदी

विषय-सूची

खंड १

पृष्ठ

१. पृष्ठभूमि : [साहित्यिक परिस्थिति] ११
२. संवेदनाके नवीन स्तर : [सांस्कृतिक पूर्वपीठिका] ३४
३. नयी कविता ४०
४. नयी कविता—२ ['अंधा युग' : नवलेखनकी एक मौलिक अभिव्यक्ति] ८५
५. असमय वृद्ध कथा-साहित्य ९५
६. नाटककी चर्चा : [व्यक्तित्व-संघटनकी चिन्ता] १४२
७. साहित्य-चिन्तनके नये स्तर १५१
८. गद्यके अन्य रूप १७०
९. नवलेखनका वातावरण १७६
१०. नवलेखनका शिल्प १८८
११. नवलेखन : स्थापनाएँ तथा समस्याएँ १९५

खंड २ [नोट्स]

१. नवलेखन : विदेशी प्रभाव ? २०७
२. नवलेखनका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर २१२
३. नवलेखन और राजनीति २१५
४. धुरीहीनता और क्रुद्ध युवक २२०
५. साहित्यमें आधुनिक संवेदना २२६
६. नवलेखनमें लोक-तत्त्व २३०
७. नये विकसित साहित्य-रूप २३३
८. नवलेखन और सहकारी प्रकाशन २३६
९. नवलेखनका मूल्यांकन २३९
१०. साहित्यकी डाइलैक्टिक्स और नवलेखन २४२
अनुक्रमणिका २४५

खण्ड २

हिन्दी नवलेखन

पृष्ठभूमि

[साहित्यिक परिस्थिति]

किसी भी साहित्यिक आन्दोलनका सूत्रपात एक निश्चित योजनाको दृष्टिमें रखकर नहीं होता। ऐतिहासिक सन्दर्भमें विशिष्ट व्यक्तियों तथा विशिष्ट परिस्थितियोंके फलस्वरूप कोई प्रवृत्ति साहित्यमें परिलक्षित होती है। सशक्त होनेपर यही प्रवृत्ति धीरे-धीरे एक धाराका रूप धारण कर लेती है। और तब प्रारम्भ होता है उसका साहित्यिक मूल्यांकन। पहले उस धाराका नामकरण होता है, उसके लक्षण निर्धारित किये जाते हैं, और फिर उन लक्षणोंके आधारपर व्यवस्थित समीक्षा प्रारम्भ होती है।

हिन्दीका नवलेखन आज इस स्थितिमें है कि हम उसका विधिवत् अध्ययन कर सकें। यह अध्ययन वाञ्छनीय ही नहीं, आवश्यक भी है, क्योंकि हिन्दी साहित्यके इतिहासमें छायावाद, रहस्यवाद अथवा प्रगतिवादका विरोध तो बहुत अधिक हुआ—सही भी और ग़लत भी—परन्तु नवलेखन जैसा विवादास्पद विषय अबसे पहले हमारे सम्मुख कभी नहीं आया। नवलेखनका मूल्यांकन इसलिए और भी आवश्यक हो जाता है, क्योंकि उसके द्वारा साहित्यका एक सर्वथा नया तथा समूचा दृष्टिकोण पहली बार हिन्दीमें आया है। अभी तकके साहित्यिक आन्दोलनोंने प्रायः साहित्यके किसी अंग विशेषके सम्बन्धमें अपना नवीन मत उपस्थित किया था। परन्तु नवलेखन साहित्यके सम्बन्धमें समस्त विचार-धाराको फिरसे तर्क-दृष्टिके साथ दुहरानेका आग्रह करता है। नवलेखन वस्तु, विधान, भाषा अथवा शैली सम्बन्धी आन्दोलन नहीं है। वह तो समस्त साहित्यिक कृतित्वको

एक नया परिप्रेक्ष्य, एक नवीन मर्यादा प्रदान करता है। इसीलिए उसका महत्त्व अभूतपूर्व है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि जिस नवलेखनके सम्बन्धमें इतने बड़े दावे किये जा रहे हैं, बहुत सम्भव है कि कुछ लोग उसे साहित्यकी कोटिमें ही न रखना चाहें। ऐसा होना बहुत स्वाभाविक भी है। जो लेखन परम्परागत रूढ़ साहित्यिक मान्यताओंको प्रारम्भसे लेकर अन्ततक शंकाकी दृष्टिसे देखता है, उसे प्रतिष्ठित साहित्यके सन्दर्भमें बड़ी आसानीके साथ बहिष्कृत करनेकी धमकी दी जा सकती है। किन्तु नवलेखनका अस्तित्व तो धीरे-धीरे वे सभी मान रहे हैं, जो अपने संस्कारोंका परिमार्जन आधुनिकता-के प्रसंगमें कर चुके हैं। नवलेखनका विरोध अधिकतर आत्म-तुष्ट तथा गति-रुद्ध व्यक्तियोंका नवीन क्षमताके प्रति निर्बल तथा असहाय विद्रोह है। वैसे यह विद्रोहका स्वर बराबर दब रहा है, ज्यों-ज्यों हम समसामयिक होनेके साथ-साथ आधुनिक भी होते जा रहे हैं। समसामयिकोंका आधु-निकोंके प्रति विद्रोह इससे अधिक चल भी नहीं पाता।

सबसे पहली समस्या उठती है कि नवलेखन वस्तुतः है क्या? उत्तरकी कई स्थितियाँ दिखाई देती हैं:—

(१) पुराने लेखकोंका नया साहित्य

(२) नये लेखकोंका नया साहित्य

(३) किसी समूची नवीन प्रवृत्ति अथवा दृष्टिकोणको व्यक्त करने-वाला साहित्य—चाहे वह किसी पुराने लेखकका हो अथवा नयेका।

स्पष्ट है कि नवलेखनका तात्पर्य तीसरी स्थितिसे है। 'नव' शब्द लेखक अथवा युगका परिचायक न होकर नवीन परिप्रेक्ष्यका द्योतक है। इसी लिए नवलेखनमें पुराने तथा नये सभी श्रेणियोंके लेखकोंका सहयोग एक साथ दिखाई देता है। नवलेखनका नितान्त आधुनिक होना एक अनिवार्यता है। और यों समसामयिक साहित्यके सन्दर्भमें उसकी स्थिति एकदम विशिष्ट है।

आधुनिकताका प्रश्न अपने आपमें बहुत उलझा हुआ है। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि आधुनिकता एक जड़ स्थिति न होकर विकासकी स्थिति है। उसकी प्रकृति सदैव गत्यात्मक रहती है। नवीन परिस्थितियोंके सन्दर्भमें अपने आपका संस्कार करना ही आधुनिकता है। संस्कार करनेकी यह स्वचेतन प्रक्रिया आरोपित न होकर सहज स्वाभाविक होती है। आधुनिकताकी स्थितिमें बाह्य प्रभावोंका भी मिश्रण रहता है, परन्तु यह मिश्रण सजग होते हुए भी ऐतिहासिक परिस्थितियोंके अनुकूल अधिक होता है। आधुनिकता संस्कृतिकी ग्रहणशीलता तथा विकासोन्मुखताकी परिचायक दृष्टि है, इसीलिए वह समूची जीवन-व्यवस्थाको प्रभावित करती है, उसके किन्हीं खण्ड विशेषको नहीं। यह दूसरी बात है कि संस्कृतिके किसी विशिष्ट अंशमें दूसरे अंशकी अपेक्षा आधुनिकताका प्रवेश शीघ्रतर हो जाय। कुल मिलाकर आधुनिकता एक भविष्योन्मुखी दृष्टि है वर्तमानके संदर्भमें।

आधुनिक होना नवलेखनकी पहली शर्त है। इसके साथ ही साथ साहित्यके सम्बन्धमें एक पूर्णतः नवीन, सुनिश्चित तथा रचनात्मक दृष्टिकोण होना दूसरी आवश्यकता है। पूर्णतः नवीन इसलिए कि परम्परागत दृष्टिकोण सारहीन, जड़ तथा खोखला हो जाता है, उन नयी परिस्थितियोंके सन्दर्भमें जिनकी कल्पनातक भी उस समय न थी जब कि उसे बड़े आदरके साथ प्रतिष्ठित किया गया था। जबतक परम्परामें यथेष्ट शक्ति रहती है तबतक आधुनिकताका प्रवेश न तो बहुत सम्भव ही होता है और न बहुत आवश्यक ही। इसीलिए साहित्यमें नवलेखनका प्रारम्भ तभी होता है जब कि परम्परागत प्रवृत्तियाँ अपनी सार्थकता खो बैठती हैं। और इसमें परम्पराके लिए कोई लज्जाकी बात भी नहीं है, क्योंकि यह तो ऐतिहासिक विकासका क्रम है। नवलेखनके सम्बन्धमें बहुप्रचलित भ्रम कि वह अपने पूर्वागत साहित्यसे उत्कृष्टतर है, ऐतिहासिक दृष्टिके अभावका परिचायक है। नवलेखन परम्परासे जर्जरित साहित्यकी अन्तिम कड़ियोंसे कहीं अधिक स्वस्थ तथा सशक्त होता ही है। परन्तु तरुणके नवीन उत्साहकी तुलना

वृद्धकी क्षीणसे क्षीणतर होती हुई शक्तिसे करना अवैज्ञानिक ही नहीं, असंगत भी है।

× × ×

हिंदी नवलेखनका पृष्ठभूमि संबंधी अध्ययन मुख्यतः दो दिशाओंमें किया जा सकता है। एक तो नवलेखनके प्रारम्भ होनेकी अवस्थामें हिन्दी साहित्यकी स्थिति, तथा दूसरे उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक परिवेशका मूल्यांकन। इसके अतिरिक्त दूसरी दिशामें यूरोपियन, विशेषतः अंग्रेजी नवलेखनका परिचयात्मक विवरण भी आवश्यक है। यह अध्ययन बहुप्रचलित अंग्रेज़ीके हिन्दीपर प्रभावको सिद्ध करनेके लिए न होकर तुलनात्मक ज्ञानकी दृष्टिसे अधिक होना चाहिए। इस तथाकथित प्रभाव सम्बन्धी तर्कों तथा निष्कर्षोंका परीक्षण हम एक स्वतन्त्र अध्यायमें करेंगे। वैसे यहाँ इतना उल्लेख आवश्यक है कि आजके निकटसे निकटतर आते हुए संसारके राष्ट्रोंके समृद्ध साहित्यका परस्पर सम्पर्कमें आकर एक-दूसरे-को विकसित करना एक पूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोणके विकासके लिए नितान्त अनिवार्य है।

हिन्दी साहित्यके प्राक् नवलेखन कालमें छायावादकी धारा लगभग समाप्त थी, और प्रगतिवाद किसी निश्चित रचनात्मक दृष्टिकोणके अभाव-में बिना विकसित हुए ही ह्रासोन्मुख हो चुका था। नवलेखनका प्रारम्भ हम 'तारसप्तक' (१९४३ ई०) की प्रकाशन-तिथिसे मान सकते हैं; यद्यपि यह स्मरणीय है कि नवलेखन तथा प्रयोगवाद (जो बहुत कुछ 'तारसप्तक'-के कारण ही अपना अस्तित्व बना सका) ठीक-ठीक पर्याय नहीं हैं। प्रयोग-वाद तो मानो नवलेखनकी मात्र भूमिका थी। जैसा नामसे ही स्पष्ट है, उसकी प्रकृतिमें बहुत-कुछ अस्थिरताके तत्त्व थे। उसके तत्त्वावधानमें नवीन प्रयोग किये गये जिनमेंसे कुछ सफल निष्कर्षोंकी सुदृढ़ भूमिपर नवलेखनकी प्रतिष्ठा हुई। इस दृष्टिसे प्रयोगवादको नवलेखनकी पूर्वपीठिका ही समझना चाहिए।

छायावादकी असामयिक मृत्युका एक प्रमुख कारण यह था कि उसमें जीवनसे सम्बन्धित किसी निश्चित रचनात्मक दृष्टिकोणका अभाव था। द्वितीय महायुद्धकी घुटनके दौरानमें छायावाद-रहस्यवादके गीत अर्थहीन हो गये थे। छायावाद जीवनके उन तत्त्वोंको आत्मसात् नहीं कर सका था, जिनके कारण कोई भी साहित्य अधिक स्थायी हो पाता है। जिन सूक्ष्म तन्तुओंसे उसका निर्माण हुआ था वे संघर्षोंके कठोर युगके उपयुक्त न थे। छायावाद वह रेशम था जिससे युद्ध तथा संकटके दिनोंमें सिपाहियोंकी वर्दी नहीं बन सकती।

सन् '४० के बाद एक ओर तो हमारा देश द्वितीय महायुद्धकी लपटोंसे आक्रान्त था, और दूसरी ओर हम स्वतः स्वतन्त्रता संग्रामकी तैयारी कर रहे थे। एक ओर मँहगाई, बेकारी, अनैतिकता तथा महामारी थी और दूसरी ओर हम रक्तहीन क्रान्तिके लिए नैतिक बलका संचयन कर रहे थे। इतने तीखे भावनात्मक संघर्षके लिए जो दृढ़ता अपेक्षित थी उसे छायावाद नहीं दे सकता था। समृद्धिका साहित्य एक प्रकारका होता है, संक्रान्तिका साहित्य दूसरे प्रकारका।

प्रगतिवादकी स्थिति हमारे साहित्यमें कुछ अजब-सी रही है। कुछ ऐसी विचित्र परिस्थितियोंमें, कुछ ऐसे पूर्वाग्रहोंके साथ वह जन्मा कि ऐतिहासिक परिस्थितियोंके अनुकूल होते हुए भी वह अपने पूर्ण विकासको प्राप्त न कर सका। उसके न पनपनेका प्रधान कारण यह था कि अपनी प्रकृतिमें वह प्रभाव अधिक था, उसके संस्कार अपने देशकी मिट्टीके न थे। इसीलिए हिन्दी साहित्यमें वह घुल-मिल न सका, और उसके साथ हमारा तादात्म्य सम्भव न हुआ। अर्द्ध-विकसित प्रगतिवाद यदि हमारे देशकी जलवायुमें जन्मा होता तो उसकी शक्ति तथा संभावनाओंको पूर्णता मिली होती। प्रगतिवादकी विदेशी प्रेरणा स्वतः उसके लिए तो घातक सिद्ध हुई ही, साथ ही उसके कारण हिन्दी साहित्यके इतिहासका एक महत्त्वपूर्ण अध्याय भी अधूरा रह गया।

प्रगतिवादके ह्रासके दिनोंमें ही हमारे साहित्यमें, विशेष रूपसे काव्य-साहित्यमें, कुछ-कुछ निर्वात (वैकुअम) की स्थिति-सी उत्पन्न हो गई। प्राचीन मान्यताएँ धीरे-धीरे समाप्त हो चुकी थीं। पुराने कथ्य तथा पुराने विधान सब फीके पड़ चुके थे। युगके नवीन सन्दर्भमें छायावादके उच्छ्वास सहानुभूति-निरपेक्ष हो गये थे। वैष्णवपद साहित्यके बाद गीति-काव्यकी जितनी संभावनाएँ शेष थीं उनमेंसे लगभग सभीको छायावादमें पूर्णता मिल चुकी थी। आन्तरिक गहराई अधिक न होनेके कारण छायावादके पास अब कुछ कहनेके लिए नहीं बचा था। प्रगतिवादमें नयापन अवश्य था, परन्तु वह सब ऐसा था जिसे हम आत्मसात् न कर सकते थे। ऐसी परिस्थितियोंमें हिन्दी साहित्य लगभग लक्ष्यविहीन हो चुका था, क्योंकि उसके सम्मुख जीवनका कोई नया दृष्टिकोण न था, जिससे संपृक्त होकर वह बदली हुई परिस्थितियोंमें कुछ शक्ति संचित कर पाता।

हिन्दीके गद्यकी स्थिति तो और भी खेदजनक थी। कथा-साहित्यके क्षेत्रमें प्रेमचन्दका व्यक्तित्व अपने-आपके बहुत-कुछ अविकसित होते हुए भी इतना बड़ा बन गया था कि उनके मार्गसे अलग चलनेकी कल्पना ही बहुतोंके मनमें न आ पाती थी। जहाँ तक जीवनगत दृष्टिकोणका प्रश्न है, प्रेमचंद गाँधीवादके अधिक निकट थे। पूँजीवाद तथा सामन्तशाहीके विरोधी होनेपर भी वे मार्क्सवादी नहीं बन सके, यद्यपि गाँधीवादसे वे पूर्णतः सन्तुष्ट हुए हों, ऐसी बात भी नहीं है। उनका कलाकार मन कोई पूर्ण समाधान न खोज पाया था। 'प्रेमाश्रम' तथा 'गोदान'की परिसमाप्ति उनके मानसिक धरातलके विकासकी परिचायक है।

जो भी हो, प्रेमचन्दने जहाँ हिन्दी कथा-साहित्यको बहुत समृद्धि प्रदान की, वहीं वे मानो उसके विकासके मार्गको कई दशकों तकके लिए अवरुद्ध कर गये। उद्देश्यकी गम्भीरता जो प्रेमचन्दमें थी वह उनके परवर्त्ती उपन्यासकारोंमें विकसित नहीं हो सकी, यह सच है, परन्तु प्रेमचन्दके आगे चलनेकी बात बहुत दिनों तक कोई न सोच सका, यह हमारी रूढ़ि-प्रियता-

का ही द्योतक है। किसी महान्के पद-चिह्नोंका अनुसरण करनेके हम जितने अभ्यस्त हैं, उतने अपना स्वतन्त्र मार्ग, भले ही वह छोटा-सा हो—बनानेके नहीं। इसीलिए आधुनिकताका आन्दोलन दशकों बाद हमारे साहित्यमें प्रवेश पा सका है।

कथा-साहित्यमें जो स्थिति प्रेमचन्दकी है, नाटकके क्षेत्रमें लगभग वैसी ही स्थिति प्रसादकी है। प्रेमचन्दके बाद तो कुछ उपन्यास लिखे भी गये, परन्तु प्रसादके बाद तो हिन्दीमें नाटक लिखनेकी मानो परंम्परा ही समाप्त हो चली। यह दूसरी बात है कि नाटकका एक अपर्याप्त स्थानापन्न एकांकी नाटक हमने अवश्य खोज निकाला। परन्तु गद्यको भव्यता तथा महत्ता उपन्यासों और नाटकोंसे मिलती है, कहानियों तथा एकांकियोंसे नहीं।

यह एक विचित्र सादृश्य है कि प्रेमचन्द तथा प्रसादके समान ही साहित्य-चिन्तनके क्षेत्रमें भी विकासका क्रम आचार्य रामचन्द्र शुक्लपर रुक गया। समीक्षाके जिन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन शुक्लजीने किया था, आगे चलकर उनका कुछ संशोधन-परिवर्द्धन भले ही किया गया हो, परन्तु इस दिशामें साहित्य-चिन्तनकी कोई नवीन पद्धति जन्म न ले सकी। सच बात तो यह है कि बिना श्रेष्ठ रचनात्मक साहित्यके सृजनकी विशिष्ट साहित्यिक मर्यादाएँ भी नहीं बन पातीं।

हिन्दी-साहित्यके इस सन्दर्भमें नवलेखन आधुनिकताका एक रचनात्मक दृष्टिकोण लेकर प्रविष्ट तथा प्रतिष्ठित होता है। काव्यके नवीन उपकरणोंको तो उसने जन्म दिया ही (प्रायः सभी देशोंमें नवान्दोलन कविताके मार्गसे ही प्रवेश पा सके हैं) साथ ही गद्यके क्षेत्रमें भी उसने नवीन दिशाओंके द्वार खोले। यह सच है कि हिन्दी गद्यके इतिहासमें नवलेखन अब तक प्रेमचन्द, प्रसाद तथा आचार्य शुक्ल जैसे एक भी महापुरुष व्यक्तित्वको जन्म नहीं दे सका है—(यद्यपि अभी इसके लिए पर्याप्त समय हुआ भी नहीं) और अब शायद महापुरुषोंका युग भी नहीं रहा—फिर भी हिन्दी

गद्यको उसने एक ऐसी सामर्थ्य अवश्य प्रदान की है, जिसके सहारे वह आधुनिक चिंतनका माध्यम बन सका है।

२

हिन्दी-नवलेखनकी साहित्यिक पृष्ठभूमिका संदर्भ तब तक अधूरा रहेगा जब तक अंग्रेज़ी तथा यूरोपियन नवलेखनकी रूपरेखा नहीं समझ ली जाती। इस दृष्टिसे अंग्रेज़ी तथा यूरोपियन 'न्यू राइटिंग'का एक संक्षिप्त विवरण प्रमुखतः लेमेनके साक्ष्यपर यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

पश्चिमके देशोंमें नवलेखनका घनिष्ठ सम्बन्ध दो महायुद्धोंसे है। प्रथम महायुद्धने यूरोपकी मानसिक संवेदनाको गहराई तक झकझोर दिया था। युद्धजनित भौतिक क्षतियाँ तो कुछ समयमें पूर्ण हो जाती हैं, परन्तु संवेदनात्मक घाव बहुत गहरे होते हैं, और वे जनमानसको साधारणतः और कलाकारोंको विशेषतः बहुत दिनों तक आन्दोलित करते रहते हैं। इस दृष्टिसे यूरोपके नये साहित्यका प्रारम्भ लगभग १९३० ई० से होता है, जब प्रथम महायुद्धकी भौतिक क्षतियाँ बहुत कुछ भरी जा चुकी थीं—परन्तु आस्थाका विघटन धीरे-धीरे प्रारम्भ हो रहा था। महायुद्ध जन्य सबसे बड़ा ख़तरा संस्कारहीनता (डिमोरलाइज़ेशन) का वातावरण बराबर गहरा होता जाता था। यूरोपियन मस्तिष्कके इसी संघर्षने वहाँके नवलेखनको जन्म दिया।

आदर्शोंका संघर्ष, जिसमें कैथोलिसिज़म, कम्यूनिज़्म तथा ह्यूमैनिज़्म जैसे बौद्धिक आन्दोलन सम्बद्ध रहे हैं, प्रथम महायुद्धके बाद ही प्रारम्भ होता है। उन दिनों कम्यूनिज़्म लगभग एक धरातलपर फ़ैशन बन चुका था। युद्धकी विभीषिकाने मनुष्यके अध्यात्मको नष्ट कर दिया था, और आर्थिक-सामाजिक कम्यूनिज़्म ही मानव-कल्याणका एकमात्र साधन दिखाई देता था। कम्यूनिज़्मको फ़ैशन कहा गया है, क्योंकि लोगोंने अधिकतर उसे एक प्रतिक्रियाके रूपमें अधिक स्वीकार किया। बहुत कम व्यक्ति ऐसे थे जिन्होंने उसके सिद्धान्तोंको परख कर तथा उनसे सन्तुष्ट होकर इस नव्य-जीवन

प्रणालीको मान्यता दी थी। इसीलिए कम्यूनिज़्म उस समय आधुनिकताका मानदण्ड अवश्य बन गया था, परन्तु वह यूरोपीय जन-मानसमें गहरे नहीं बैठ सका था, जैसा कि सन् १९४० के आस-पास भूतपूर्व कम्यूनिस्ट कहे जानेवाले एक विशिष्ट दलकी बढ़ती हुई संख्यासे ज्ञात होता है। कम्यूनिज़्म-की परख करते समय इन चिन्तकोंको गहरी निराशा हुई, और बहुतसे लोगोंने इसे असफल देवता (गौड दैट फ़ेल्ड) घोषित किया। 'गौड दैट फ़ेल्ड' संकलनके छः लेखक—स्टीफ़ेन स्पेंडर, आर्थर कोस्लर, रिचार्ड राइट, आन्द्रे ज़ीद, लुई फ़िशर तथा इग्नेज़ियो सिलौने—तत्कालीन बौद्धिक पीढ़ीके मानसिक संघातका प्रतिनिधित्व करते हैं।

कोस्लरका अनुभव संभवतः सबसे तीखा था। शायद इसीलिए इस सम्बन्धमें उसने सबसे अधिक लिखा है। दो जिल्दोंमें प्रकाशित उसकी आत्मकथा—'ऐरो इन द ब्लू' तथा 'इनविज़िब्ल राइटिंग'की मूल संवेदना मानो कम्यूनिज़्मको लेकर उसका यह आकर्षण-विकर्षण ही है। सन् १९३१ में छब्बीस वर्षकी अवस्थापर कम्यूनिस्ट बननेके दिनोंकी बादमें चर्चा करते हुए वह बड़े रोचक ढंगसे लिखता है कि 'सात वर्ष तक उसने कम्यूनिस्ट पार्टीका कार्य किया। ठीक उतनी ही अवधि तक जितनी अवधिमें लबानकी भेड़ें चराकर जैकबने उसकी लड़की रैशेलको प्राप्त करना चाहा था। जब अवधि समाप्त हुई तो उसके अँधेरे कमरेमें वधूको लाया गया। दूसरे दिन ही वह यह जान सका कि उसका प्रणय-दान सुन्दरी रैशेलके लिए न होकर कुरूपा लीहको दिया गया था।' कम्यूनिज़्मको लेकर गहरी निराशा तथा अनास्थाका इससे व्यंजनापूर्ण चित्रण और कैसे हो सकता था?

अपनी पुस्तक 'न्यू राइटिंग इन यूरोप'में यूरोपीय नवलेखनकी पूर्व-पीठिकाका विश्लेषण करते हुए जॉन लेमेन लिखते हैं, "सन् ३० तथा उसी दशकके अन्य युवा विद्रोहियोंके ठीक पहले कुछ ऐसे लेखक हुए थे जो स्वतः विद्रोही थे और जो एक-दूसरेसे महत्त्वपूर्ण बातोंमें अन्तर रखते हुए भी कुछ समान गुणोंसे युक्त थे। उसका यह भी कहना है कि वस्तुतः

नवलेखनके मूल तत्त्व बीज रूपसे जेम्स जॉयस, वर्जिनिया वुल्फ, टी० एस० ईलियट जैसे पुराने खेवेके लेखकोंकी रचनाओंमें व्याप्त थे।" कुछ उसी प्रकारकी बात हिन्दी नवलेखनके सन्दर्भमें कही जा सकती है। नवलेखनके पूर्व निराला (विशेष रूपसे द्रष्टव्य कविका संकलन 'नये पत्ते'), पन्त, इलाचन्द्र जोशी, जैनेन्द्र तथा कुछ प्रगतिवादियोंका विद्रोह अपनी मूल प्रकृतिमें वस्तुतः दब नहीं सका था। भिन्न-भिन्न रूपों तथा परिस्थितियोंमें वह प्रकट होता रहा है। विद्रोहकी इस अर्द्ध-अनुभूत स्थितिको एक व्यवस्थित रूप नव-लेखनके तत्त्वावधानमें मिला।

यूरोपियन नवलेखनका जन्मकाल १९३२ में माना जा सकता है, जब कि नये लेखकोंका एक काव्य-संकलन 'न्यू सिग्नेचर्स'—नये हस्ताक्षर (तुल-नीय हिन्दी 'तारसप्तक' : १९४३ ई०) के नामसे प्रकाशित हुआ। इस संकलनके लेखक थे डब्ल्यू० एच० ऑडन, जूलियन बेल, सेसिल डे लुइस, रिचर्ड एबरहर्ट, विलियम् एम्पसन, जॉन लेमेन, विलियम प्लोमर, स्टीफ़ेन स्पेंडर तथा ए० एस० जे० टेसीमोन्ड। संकलनकी भूमिका प्रस्तुत की थी माइकेल रॉबर्ट्सने। इन लेखकोंकी स्थिति जॉन लेमेनके ही शब्दोंमें प्रस्तुत करना चाहूँगा—'ये सभी ३५ वर्षसे कमके थे—ऐसे युवक जो १९१४-१८ के युद्धमें भाग लेनेके लिए अवस्थाकी दृष्टिसे योग्य नहीं थे। परन्तु फिर भी जिनका बचपन तथा प्रारम्भिक शैशव महायुद्धके परिणामोंसे आक्रान्त था, वे सबके-सब अंग्रेज़ी समाजके प्रायः एक ही स्तरसे सम्बद्ध थे, और उनमेंसे अधिकांश ऑक्सफ़ोर्ड अथवा केम्ब्रिज विश्वविद्यालयमें शिक्षा प्राप्त कर चुके थे। यह बात रोचक होनेके साथ ही साथ स्मरणीय भी है, क्योंकि इनमेंसे ऑडेन, डे लुइस तथा स्पेंडरकी महत्त्वपूर्ण त्रयी क्रान्तिकारी रचनाओंकी, यहाँ तक कि कम्यूनिस्ट पद्धतिकी रचनाओंकी भी अग्रणी समझी जाने लगी, यद्यपि इनमेंसे कोई भी कामगार परिवारसे दूर-दूरतक सम्बद्ध नहीं था।' इस उद्धरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये नये लेखक युद्धोत्तर विशृङ्खलताके वातावरणमें परम्परागत रचना-पद्धतियोंको

अधूरा समझकर एक नयी दिशाकी खोजमें चल रहे थे। पुरानेसे असन्तोष-की भावना सबमें समान थी। नयेका अन्वेषण हो—इस सम्बन्धमें भी सब एकमत थे, परन्तु वह नयी पद्धति कौन-सी हो—यह शायद उनमेंसे कोई भी ठीक-ठीक नहीं जान सका था। इसीलिए किसी मत अथवा सम्प्रदाय विशेषके लिए उनके मनमें कोई आग्रह नहीं था। किसी उपयुक्त आदर्शके अभावमें कम्यूनिज़्मके प्रति उनका झुकाव विशिष्ट रूपसे था, इसमें कोई सन्देह नहीं। पर यह झुकाव बहुत स्थायी सिद्ध नहीं हुआ। (तुलनीय 'तारसप्तक'की भूमिका तथा उसमें संगृहीत कवियोंके साम्यवाद पक्षी वक्तव्य)। तबसे अबतकके विकासके फलस्वरूप यूरोपीय नवलेखन राज-नैतिक स्तरपर भी व्यापक मानवतावादको साहित्य-दर्शनके रूपमें स्वीकार कर चुका है।

'न्यू सिग्नेचर्स' के प्रकाशनके एक वर्ष बाद एक और संकलन 'न्यू कण्ट्री' नामसे प्रकाशित हुआ। इस संकलनमें मुख्यतः गद्य रचनाएँ थीं। कहना न होगा कि इन दोनों संकलनोंने अंग्रेजी साहित्यमें विचित्र-विचित्र प्रकारकी प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न कर दीं। इस नये साहित्यको लेकर कई विवाद उठ खड़े हुए। साहित्यिक दृष्टिके साथ इन संकलनोंने राजनैतिक आदर्शोंके सम्बन्धमें भी कुछ नवीन मत प्रस्तुत किये। इसीलिए इनसे सम्बद्ध विवाद भी कई प्रकारके थे—वस्तुगत, शिल्प-विधानगत और राजनैतिक।

यूरोपियन नवलेखन एक ओर तो भावात्मक तीव्रताको लिये हुए था, और दूसरी ओर उसमें बौद्धिक चेतनाकी मात्रा भी कम न थी। वस्तुतः यह बौद्धिक दृष्टिकोण इस नये साहित्यकी एक प्रमुख विशेषता थी। मानव मूल्यों तथा मर्यादाओंकी बात करते समय बौद्धिक दृष्टिकोणका विकसित होना स्वाभाविक था। सहज होनेके कारण इस बौद्धिकताने नवलेखनकी साहित्यिक संवेदनाओंको जड़ तथा नीरस नहीं कर दिया। पर युद्ध-शान्ति, आस्था-अनास्था, कैथोलिसिज़्म तथा कम्यूनिज़्म जैसे विषयोंको लेकर

चलनेवाले आन्दोलनको अपनी मौलिक प्रकृतिमें 'इनटैलैक्चुअल' तो होना ही था।

अंग्रेज़ी न्यी कविताका आन्दोलन इन संकलनोंके प्रकाशित होनेके पूर्व और बादमें भी मुख्यतः तीन कवि परिचालित कर रहे थे—ऑडेन, डे लुइस तथा स्पेंडर। इनकी रचनाओंमें विषयकी नवीनताके साथ-साथ आधुनिक-जीवनके सन्दर्भोंसे लिमे हुए भाव-चित्रोंका संग्रंथन बड़ी कुशलता-के साथ हुआ है। 'न्यू सिग्नेचर्स' संकलनके भूमिकाकार माइकेल रॉबर्ट्स-का तो स्पष्ट कथन था कि इन कवियोंकी रचनामें जो सबसे महत्त्वपूर्ण बात थी, वह थी एक नयी प्रकारकी 'इमेजरी' का प्रयोग। मशीन-युगके ये भावचित्र कवियोंकी चेतनामें बहुत सजग रूपसे नहीं आये थे, वरन् उनकी स्थिति काफ़ी स्वाभाविक तथा संश्लिष्ट थी। विज्ञान, मार्क्सवाद तथा इतिहास-दर्शन जैसे विषय इस युगकी कविताके उपकरण बन गये थे।

यूरोपीय तथा अंग्रेज़ी नवलेखनको विकसित करनेका बहुत कुछ श्रेय जॉन लेमेनको दिया जा सकता है। इस सम्बन्धमें स्वतः उनका अपना रचनात्मक कृतित्व सम्भवतः बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। परन्तु अपनी 'न्यू राइटिंग', 'न्यू राइटिंग एण्ड डेलाइट' तथा 'पेंग्विन न्यू राइटिंग' द्वारा उन्होंने इस आन्दोलनको जो एकसूत्रता प्रदान की, वह कवियों अथवा नाटककारोंके बिखरे हुए प्रयत्नों द्वारा सम्भव नहीं थी। 'पेंग्विन न्यू राइटिंग'के बन्द हो जानेपर भी 'द लंडन मैगज़ीन' के माध्यम द्वारा वे नव-लेखनका अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर प्रतिनिधित्व करते रहे। वैसे इसके पूर्व भी नवलेखनकी प्रवृत्तियोंको उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर ही देखा था। जॉन लेमेनकी आत्मकथाका प्रथम खण्ड 'द व्हिस्परिंग गैलरी' यूरोपियन नव-लेखनके विकासको उसके वास्तविक सन्दर्भमें उपस्थित करता है।

'न्यू राइटिंग' की योजना प्रारम्भमें लेमेन तथा क्रिस्टोफ़र ईशरवुडने प्रस्तुत की थी। बादमें राल्फ़ फ़ौक्स, स्टीफ़न स्पेंड़र, रोज़ामंड तथा बीट्रिक्स लेमेन, विलियम प्लोमर आदि अन्य अंग्रेज़ी लेखकोंका भी सहयोग

प्राप्त किया गया। इस योजनाको कार्यान्वित करनेके लिए जॉन लेमेनने कई बार यूरोपकी यात्रा की और नवलेखनके बिखरे हुए सूत्रोंको संगठित किया। इस भ्रमणके दौरानमें उन्होंने स्थितिको अपनी आँखों देखा और अनुभव किया कि नयी राजनैतिक परिस्थितियोंमें जिस साहित्यका सृजन होना शुरू हुआ है उसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं, और उसकी एक यथार्थवादी तथा मानववादी अपील है। यहींसे 'न्यू राइटिंग' की योजना उसके सम्पादकके मनमें जन्म लेती है। स्वतः लेमेनके शब्दोंमें "अतः मैंने एक ऐसी पत्रिकाकी कल्पना की जो न केवल मध्यवर्गीय तथा कामगार वर्गके लेखकोंको एक साथ लाये—और इनमेंसे भी दूसरे प्रकारके लेखकोंको आगे आनेके लिए प्रोत्साहित करें—वरन् इन दोनों ही तरहके अंग्रेज़ी तथा विदेशी लेखकोंका एक क्रम उपस्थित करे जो एक दूसरेके प्रतिनिधि तथा पूरक बन सकें।"

'न्यू राइटिंग'के लेखक-मण्डलमें 'न्यू कण्ट्री' परिवारके बहुतसे सदस्य थे। इङ्गलैण्डके अतिरिक्त अन्य देशोंके लेखकोंने भी इस योजनामें सहयोग दिया। इन सहयोगियोंमेंसे प्रमुख थे—क्रिस्टोफ़र ईशरवुड, एडवर्ड अपवार्ड, स्टीफ़ेन स्पेंडर, सेसिल डे लुइस, विलियम प्लोमर, रैक्स वार्नर, वाइस्टन ऑडन, जॉर्ज ऑरवेल, जेम्स स्टर्न, वी० एस० प्रीचेट, जेम्स हेनली, राल्फ़ फ़ॉक्स तथा राल्फ़ बेट्स। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे लेखक भी थे जिनकी रचनाएँ अब तक प्रकाशित नहीं हुई थीं। इस प्रकारके रचनाकारोंमें थे लेसली हाबर्ड, टॉम बर्न्स, जॉर्ज गैरेट, विली गोल्डमैन, जी० एफ़० ग्रीन, एच० टी० हॉपकिन्सन, कथबर्ट वॉस्ले, रैन्डाल स्विगलर और बी० एल० कूम्बीज़। भारतके अंग्रेज़ी लेखकोंमेंसे मुल्कराज आनन्द तथा अहमदअलीकी रचनाएँ 'न्यू राइटिंग'में प्रकाशित हुई थीं। अन्य विदेशी लेखकोंमेंसे आन्द्रे चैम्सन, ज्याँ गिआनो, लुई ग्विलौ, आना सैघर्स, इग्नैज़ियो सिलोने, निकोलाई तिखोनोव तथा आन्द्रे मैलरोने नवलेखनके इस आन्दोलनमें सक्रिय रूपसे भाग लिया।

जॉन लेमेनने 'न्यू राइटिंग' के लिए जिस विशेष मध्यवर्गीय तथा कामगार वर्गके लेखकोंसे सहयोग चाहा था, वह उन्हें समुचित मात्रामें मिला। उदाहरणके लिए १९३६ ई० में प्रकाशित होनेवाले 'न्यू राइटिंग'के दूसरे अंकमें जो लेखक थे, उनमें कुछ ऐसे थे जो चमड़ेका काम करनेवाले, प्लास्टर करनेवाले, बन्दरगाहके खलासी, नाविक, लकड़हारे तथा दर्जीगीरीका काम सीखनेवाले रहे थे। 'न्यू राइटिंग' में प्रकाशित रचनाएँ भी मुख्यतः इसी प्रकारके जीवनको चित्रित करती थीं। यूरोपीय नवलेखनमें समाजके ऊँचे-नीचे सभी स्तरोंके लेखकोंका समान भावसे सहयोग रहा है, यह एक स्मरणीय तथ्य है। यही नहीं इस प्रकारके साहित्यमें समाजके निम्नस्तरीय जीवनकी आशाओं, आकांक्षाओं तथा असफलताओंका ही अंकन अधिक हुआ है।

कविताके माध्यमसे प्रवेश पाकर नवलेखनकी प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे साहित्यके अन्य रूपोंको भी प्रभावित कर रही थीं। नये उपन्यासकारोंमें क्रिस्टोफ़र ईशरवुड तथा एडवर्ड अपवर्डके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। इन दोनोंकी ही रचनाओंमें राजनैतिक चेतना गहरे तक पैठी हुई थी। फ़ासिज़्म तथा साम्राज्यवादपर प्रहार इनकी कृतियोंमें स्पष्ट रूपसे विद्यमान था। स्टीफ़ेन स्पेंडरने भी, जो प्रमुख रूपसे कवि हैं, कथा-साहित्यके क्षेत्रमें कुछ कार्य किया। उनकी कहानियोंका एक संग्रह 'द बर्निङ्ग कैक्टस' १९३६ ई० में प्रकाशित हुआ और इसके बाद ही उनका एक उपन्यास 'द बैकवर्ड सन' भी आया।

उपन्याससे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य नाटकके क्षेत्रमें हुआ। नाटक लिखने तथा रंगमंच-संगठन दोनों ही ओर इन लेखकोंने ध्यान दिया। अंग्रेज़ी नाटक, जो इधर मुख्यतः काव्य-नाटकके ही रूपमें अधिक विकसित हो रहा था, इन नवीन लेखकों विशेषतः कवियोंके हाथमें पड़कर और समृद्ध तथा भाव-प्रवण बना। रंगमंचकी दृष्टिसे दो प्रयोग हुए। एक था कामगार सोशलिस्टोंका प्रयत्न जो 'यूनिटी थिएटर' के नामसे विख्यात हुआ। और

दूसरा यत्न था स्वतः 'न्यू कंट्री' परिवारके लेखकोंका। इन लोगोंने निजी क्लबके ढंगपर एक 'ग्रूप थिएटर' का संगठन किया।

नाटक-लेखनके क्षेत्रमें कवि लोग ही मुख्यतः आगे बढ़े। ऑडन तथा स्पेंडरने और ईशरवुड-ऑडनने इस दिशामें महत्त्वपूर्ण कार्य किया। 'पेड ऑन बोथ साइड्स' तथा 'द डांस ऑफ़ डैथ' ऑडनकी नाट्य-कृतियाँ थीं। इसके उपरान्त ऑडन ईशरवुडके संयुक्त लेखनमें 'द डौग बिनीथ द स्किन' प्रस्तुत किया गया। इन दोनोंका दूसरा नाटक था 'द एसेंट ऑफ़ एफ़ सिक्स।' लगभग ये सभी नाट्य-कृतियाँ 'ग्रूप थिएटर' द्वारा अभिनीत हुई थीं। स्टीफ़ेन स्पेंडरका प्रसिद्ध नाटक 'ट्रायल ऑफ़ ए जज' 'ग्रूप थिएटर' तथा 'यूनिटी थिएटर' दोनों ही द्वारा प्रस्तुत किया गया।

जैसा पहले संकेत किया गया, इंग्लैंडमें नवलेखनकी प्रवृत्तियोंने कविताके माध्यमसे प्रवेश किया परन्तु फ्रांसमें स्थिति इसके विपरीत थी। वहाँ परिवर्त्तनके लक्षण पहले गद्यके क्षेत्रमें दिखाई दिये। ये नवीन गद्यकार मुख्यतः 'वांद्रेदी' नामक साप्ताहिक पत्रसे किसी-न-किसी प्रकार सम्बद्ध थे। शामको पैरिसके किसी काफ़ेमें मिलकर बैठना इन बुद्धिजीवियोंकी दिनचर्या-का एक महत्त्वपूर्ण अंग था। नवलेखनके फ्रांसीसी समर्थकोंमें सबसे प्रमुख थे आन्द्रे चैम्सन।

नवलेखनके अन्य विदेशी सहयोगियोंमें गिओनो, इग्नैज़ियो सिलोने, आना सैघर्स, बर्ट ब्रैख्ट, अर्न्स्ट टोलर, लडविग रैन, माइकेल शोलोखोव, निकोलाई तिखोनोव, ज्याँ पॉल सार्त्र तथा आन्द्रे मैलरोके नाम विशेष रूप-से उल्लेखनीय हैं। इन सभी लेखकोंकी दृष्टियाँ भिन्न-भिन्न थीं। परन्तु एक बात लगभग सबमें समान रूपसे पाई जाती थी। अपने देशके सामान्य जन-जीवनमें उन सबकी गहरी रुचि थी। लेमेनके शब्दोंमें कहा जा सकता है कि उनकी आन्तरिक इच्छा यह थी कि वे एक नये मानवतावाद, एक नयी भ्रातृ-भावनामें विश्वास तथा प्रत्येक पुरुष तथा नारीके जीवनगत मूल्यों-में अपनी गहरी आस्थाको अभिव्यक्ति दे सकें।' इस कथनकी पुष्टि स्पेनिश

सिविल वारके सन्दर्भमें विशेष रूपसे होती है। इस गृहयुद्धमें प्रजातांत्रिक प्रणालियोंको तानाशाही-द्वारा दबाये जानेका समस्त लेखक समुदायने घोर विरोध किया। इस सम्बन्धमें सैद्धांतिक तथा क्रियात्मक दोनों ही स्तरों पर पीड़ितोंको सहानुभूति देनेका यत्न किया गया।

काव्यके स्तरपर स्पेंडरका स्पेनिश सिविल वारसे गहरा सम्बन्ध हो गया था। उनकी प्रसिद्ध रचना 'स्पेन' आज ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। स्पेंडरके अतिरिक्त 'न्यू राइटिंग' परिवारके अन्य बहुतसे सदस्योंने भी इस नैतिक अभियानमें योग दिया। यही नहीं स्पेनकी प्रजातन्त्रात्मक शक्तियों-को युद्धमें सक्रिय सहयोग देनेके लिए जो 'इण्टरनेशनल ब्रिगेड' बना उसमें बहुत-से नये लेखक भी सम्मिलित हुए। इनमेंसे कई तो युद्ध-स्थलपर काम आये। स्पेनके प्रति लेखकोंकी अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर यह सहानुभूति इस बातकी ओर संकेत करती है कि नवलेखन क्रियाशील रचनाकारोंकी चतुर्मुख जागरूकताका परिणाम है।

× × ×

यूरोपीय नवलेखन जैसी तीव्रता हमें आधुनिक अमेरिकन साहित्यमें नहीं मिलती। इसका एक प्रधान कारण सम्भवतः यह है कि वहाँ प्रारम्भसे ही परम्परामुक्त साहित्यका सृजन हो रहा है। अमेरिकन सभ्यता, संस्कृति तथा साहित्यके अपेक्षाकृत बहुत नवीन होनेके कारण वहाँके लेखकोंको युग-युगोंसे चली आनेवाली निरर्थक रूढ़ियों तथा परि-पाटियोंका सामना नहीं करना पड़ा। इसीलिए अपने प्रारम्भिक कालको छोड़कर जब कि अमेरिकन साहित्य बहुत कुछ यूरोपीय प्रभावमें लिखा जा रहा था, वहाँका साहित्यिक सृजन नवोन्मेषशाली तथा शक्ति-सम्पन्न है। उसमें तरुणाईकी प्रखरता बिना किसी विद्रोहके ही है। वैसे यूरोपियन नवलेखनके सन्दर्भमें कुछ आधुनिक अमेरिकन लेखकोंके नाम विशेष महत्त्व-पूर्ण हैं। इनमेंसे प्रमुख हैं—ई० ई० कमिंग्ज़, विलियम सरोयान, जॉन स्टीनबैक, टैनेसी विलियम्स तथा आर्थर मिलर। इनके अतिरिक्त अर्नेस्ट

हेमिंग्वेका नाम उल्लेखनीय है। स्पेनके प्रति गहरी सहानुभूति रखनेके कारण हेमिंग्वेका नाम यूरोपीय नवलेखनसे विशेष रूपसे सम्बद्ध है। हेमिंग्वे-के कृतित्वमें स्पेनिश संस्कृतिके तत्त्व स्थान-स्थानपर मिलते हैं। स्पेनके युद्धका वर्णन भी उन्होंने बड़ी सजीवताके साथ किया है।

यूरोपीय नवलेखनकी कुछ पद्धतियाँ अमेरिकासे असम्बद्ध नहीं रही हैं। वस्तुतः नवलेखनके कुछ सहयोगी इन दोनों ही प्रदेशोंसे सम्बद्ध हैं। नयी तथा पुरानी पीढ़ीके कुछ लेखक तो दोनों देशोंमें रहे हैं, और इस प्रकार सांस्कृतिक तत्त्वोंके सतत आवागमनकी प्रक्रिया भी सदा जारी रही है। आधुनिक फ़िल्मों तथा नाटकोंमें, जिनमेंसे अधिकांश नवलेखनकी मौलिक प्रवृत्तियोंके निकट रहे हैं, या ऐसी ही कृतियोंपर आधारित हैं, ऐंग्लो-अमेरिकन तथा यूरोपीय-अमेरिकन सहयोग विशेष रूपसे द्रष्टव्य है। इस दृष्टिसे यूरोपीय—विशेषतः अंग्रेज़ी नवलेखनमें अमेरिकन तत्त्वोंका विशिष्ट सहयोग रहा है; यह दूसरी बात है कि स्वतः अमेरिकन साहित्यमें नव-लेखन एक जीवित आन्दोलनके रूपमें प्रवर्तित न हुआ हो।

३

यूरोप तथा अन्य क्षेत्रोंके नवलेखनमें भी विचार-धाराओंका प्राधान्य रहा है। नवलेखनकी रचनात्मक प्रक्रिया बहुत कुछ बौद्धिक स्तरपर है। इसीलिए समकालीन विचारकों तथा चिन्तकोंका कृतित्व प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे नवलेखनकी सृजन-पद्धतियोंको प्रभावित करता रहा है। यूरोपीय नवलेखनके समक्ष तो आधुनिक चिन्तनकी एक बहुत बड़ी परम्परा रही थी। हिन्दीकी स्थिति उससे भिन्न है। उसकी पहुँच तथा प्रवृत्ति बहुत चुनी हुई यूरोपीय विचार-धाराओंतक रही है। अपने देशके चिन्तकोंमेंसे तो सम्भवतः अरविन्दका जीवन-दर्शन ही नवलेखनके सृजनमें सहायक दिखाई देता है। गांधी समकालीन साहित्यकी रुचिके बहुत निकट नहीं पड़ते।

यूरोपीय विचारकोंमेंसे मार्क्स तथा फ्रॉयडके नाम अब पुराने पड़ चुके हैं। सभी सजग देशोंके साहित्योंने उनसे प्रेरणा ग्रहण की है। हिन्दी साहित्यमें भी छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवादसे इनका सम्बन्ध दिखाई देता है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि हिन्दी नवलेखनकी रचना-पद्धतियोंमें इन दोनों आचार्योंके विचार किसी-न-किसी रूपमें घुले-मिले हों। नवलेखनकी सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक सजगता तथा यथार्थप्रियता-में इन दोनों चिन्तकोंका बड़ा हाथ है।

आधुनिक यूरोपीय विचार-धाराओंमें अस्तित्ववाद तथा अतियथार्थवाद किसी-न-किसी रूपमें नये साहित्यके निकट रहे हैं। कला तथा साहित्यके इन दोनों ही आन्दोलनोंका गहरा प्रभाव आधुनिक हिन्दी साहित्यपर दिखानेका कभी-कभी हठपूर्वक प्रयत्न किया जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि इनमेंसे अस्तित्ववाद तो शुद्ध दार्शनिक भूमिपर आधारित रहनेके कारण प्रायः साहित्यकी विषय-वस्तु नहीं बन पाया है। स्वतः सार्त्रकी सृजनात्मक रचनाएँ किस प्रकार और कहाँतक अस्तित्ववादी मानी जा सकती हैं, यह बहुत-से आलोचकोंके लिए विवादका विषय बन गया है। अस्तित्ववाद एक जीवन-दर्शन है, जिससे प्रभावित होनेके लिए साहित्यकारको उसे गहराईतक समझना और मानना पड़ेगा। हिन्दी नव-लेखनमें शायद ही कोई ऐसी कृति हो, जो अपनी प्रकृतिमें अस्तित्ववादी कही जा सके। क्षणके असीमत्व तथा महत्त्व जैसी कुछ अस्तित्ववादो भाव-नाओंकी चर्चा कहीं-कहीं अवश्य द्रष्टव्य है।

अतियथार्थवादकी स्थिति कुछ भिन्न है। यह मुख्यतः कला तथा साहित्यके क्षेत्रमें आन्दोलन था—दर्शनके क्षेत्रमें नहीं। इसकी विचार-पद्धति प्रमुख रूपसे ललित कलाओंको ध्यानमें रखकर चलती है। सम-कालीन यूरोपीय चित्रकला, मूर्त्तिकला तथा कविताको अतियथार्थवादने काफ़ी प्रभावित तथा प्रेरित किया है। नयी हिन्दी कवितामें बिखरे हुए भावचित्र, मुक्त भाव-साहचर्य, अमूर्तन तथा दिक्-कालके आयामोंसे ऊपर

उठनेका यत्न—ये सभी मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ किसी हदतक अतियथार्थवादके फलस्वरूप कही जा सकती हैं। आधुनिक हिन्दी कथा-साहित्यमें चरित्र-चित्रण तथा शैलीके रूप कहीं-कहीं अतियथार्थवादी सिद्धान्तोंका स्मरण दिलाते हैं।

उक्त दो विचार-पद्धतियोंके अतिरिक्त नवमानवतावाद तथा व्यक्तित्ववादके कुछ सिद्धान्तोंकी चर्चा हिन्दी नवलेखनमें यत्र-तत्र प्रस्तुत है। मानवीय दायित्व तथा स्वातन्त्र्यकी स्थिति और मानवीय व्यक्तित्वका सम्मान—ये दोनों विषय नवलेखनके रचनात्मक तथा समीक्षात्मक दोनों ही अंगोंमें बड़े सहज रूपसे व्याप्त हो गये हैं। वस्तुतः ये दोनों विचारधाराएँ परम्परागत भारतीय चिन्तनके बहुत निकटकी हैं। व्यक्तिके विकासके माध्यमसे समाजके उत्थानका यत्न हमारे सभी दार्शनिक मतवादोंमें लगभग समान रूपसे मिलता है। नवमानवतावाद तथा व्यक्तित्ववाद इस चिन्तन-पद्धतिको आधुनिक सन्दर्भमें प्रतिष्ठित करते हैं। इसीलिए इन विचारधाराओंसे हिन्दी नवलेखन विशेष रूपसे सम्बद्ध अनुभव करता है।

आधुनिक भारतीय तत्त्व-चिन्तकोंमेंसे अरविन्दने हमारे नये साहित्यको कुछ प्रभावित किया है। सुमित्रानन्दन पन्त, जिनकी बादकी रचनाओंको इतिहासकार नवलेखनसे संबद्ध मान सकता है, साहित्यिकोंमें सम्भवतः अरविन्द-दर्शनके सबसे बड़े अध्येता रहे हैं। अरविन्दके चिन्तनने उन्हें नयी दिशाओंमें सोचनेकी प्रेरणा दी। पन्तकी 'स्वर्ण किरण' 'स्वर्ण धूलि' तथा 'उत्तरा' में अरविन्दको लेकर कविका विचार-मन्थन स्पष्ट दिखाई देता है। मानवीय चेतनाके अनेक स्तरोंका स्पर्श आधुनिक कालमें अरविन्दकी साधनामें प्रधान रहा है। पश्चिमी मनोविज्ञानके अन्वेषणोंकी सहायता लेते हुए विचार-दर्शनके क्षेत्रमें उन्होंने बहुत कुछ भारतीय भावभूमिको ही अपनाया। पन्तके बाद विकसित होनेवाले हिन्दी नवलेखनको अरविन्द-दर्शनने और भी सूक्ष्म रूपसे प्रभावित किया है। नवलेखनमें

व्यक्तिको समझ सकनेकी चेष्टा इस विचार-पद्धतिसे बहुत कुछ पुष्ट हो सकी है।

यह एक विचित्र तथा रोचक तथ्य है कि युगपुरुष गांधीकी विचार-धारासे आधुनिक साहित्य गहरे स्तरोंपर बहुत कम प्रभावित हो सका है। उनकी कट्टर तथा शुद्ध नैतिकता सम्भवतः कलात्मक प्रवृत्तियोंके बहुत अनुकूल नहीं पड़ती। गांधी द्वारा समर्थित सर्वोदय विनोवाके माध्यमसे अवश्य साहित्य-चिन्तनको कभी-कभी दिशा-निर्देश देता है। गांधीकी विचार-धाराको ग्रहण करनेके लिए विनोवाकी मध्यस्थता क्यों आवश्यक हुई, यह एक स्वतन्त्र तथा रोचक अध्ययनका विषय है।

आधुनिक विचार-पद्धतियोंका हिन्दी नवलेखनसे सम्बन्ध खोजते समय एक तथ्य स्मरणीय है। इन विचार-पद्धतियोंमेंसे कुछने मुख्यतः साहित्यके सृजनात्मक पक्षको प्रेरणा दी है और कुछने साहित्य-चिन्तनकी दिशा निर्धारित करनेमें अधिक सहयोग दिया है और कुछका योगदान दोनों ही पक्षोंमें समान रूपसे रहा है। अतियथार्थवाद पहले पक्षका उदाहरण है और व्यक्तित्ववाद दूसरे पक्षका, जब कि मार्क्सवाद अथवा फ्रॉयडके मनोविज्ञानने सृजनात्मक तथा समीक्षात्मक दोनों दिशाओंमें प्रभावित किया है।

४

ऐतिहासिक क्रम-विकासकी दृष्टिसे हिन्दी-नवलेखनका घनिष्ठ सम्बन्ध प्रगतिवाद तथा प्रयोगवादसे रहा है। विषय-वस्तुके चयनमें नवलेखन मुख्यतः प्रगतिवादके निकट है, और शिल्प-विधानके क्षेत्रमें उसने प्रयोगवाद-से अधिक प्रेरणा ग्रहण की है। वस्तुतः हिंदी-साहित्यके इन दोनों वादोंकी अनिवार्य परिणति नवलेखनमें ही होनी थी, ऐसा कहना बहुत असंगत न होगा। प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद स्वतः पूर्ण विकसित हुए बिना ही नवलेखनमें समाहित हो गये।

प्रगतिवादके अधूरे रहनेका मुख्य कारण उसका विदेशी प्रेरणा-स्रोत था। अन्यथा जो बात उसने कहनी चाही थी वह ऐतिहासिक महत्त्वकी थी। छायावाद-रहस्यवादकी प्रतिक्रियाके रूपमें प्रगतिवाद हमारे साहित्यका काफ़ी स्थायी अंग हो सकता था, यदि उसका मौलिक स्वरूप राष्ट्रीय होता। परन्तु प्रगतिवाद स्वतः अपूर्ण रहते हुए भी अपने आगेवाले लेखकों-को एक दिशा-निर्देश देता रहा है। उसकी सार्थकता हमारे इतिहासमें इसीलिए है।

जीवनके निम्नतम तथा तिरस्कृत स्तरोंका स्पर्श संभवतः प्रथम बार प्रगतिवादी साहित्यने किया था। कटु यथार्थका आग्रह उसकी अपनी विशे-षता थी। हिन्दीकी नयी कविताने इस विशेषताको कुछ परिवर्त्तनके साथ स्वीकार किया है। प्रगतिवादमें जिस व्यापक मानवीय सहानुभूतिकी ओर संकेत था, वह नवलेखनमें कुछ और पुष्ट हुई है। साथ ही उसमें जीवनके प्रति एक संतुलित भाव भी जागृत हुआ है। इस दृष्टिसे प्रगतिवादके रचना-त्मक तत्त्वोंका अधिकाधिक परिष्करण नवलेखनमें हो सका है।

प्रयोगवाद नवलेखनके ठीक पहलेकी स्थिति है। हिन्दी-साहित्यकी यह धारा भी बहुत दूर तक न चल सकी। इसका मुख्य कारण स्वतः प्रयोग-वादकी मूल प्रकृतिमें ही निहित है। कुल मिलाकर प्रयोगवादने अधिक बल कविताके शिल्प-विधानपर दिया था। अनुभूतियोंके क्षेत्रमें भी उसने कुछ नवीनताका संचरण किया। परन्तु समस्त जीवनके सम्बन्धमें उसका अपना कोई सुस्पष्ट दृष्टिकोण नहीं था। यह भी सही है कि प्रयोग-वादके लिए यह बहुत इष्ट न था। अन्ततः वह अनुभूतियोंके चित्रण तथा शिल्प-विधानके क्षेत्रमें एक प्रयोग ही था। अतः उसकी सार्थकता भी इसी रूपमें है। प्रयोगवादका हमारे इतिहासमें स्थायी होना कुछ बहुत स्पृहणीय न था। इतने लम्बे समय तक प्रयोगकी स्थिति रहना प्रवृत्तिगत अस्थिरता-का द्योतक होता!

शिल्प-विधान तथा अनुभूतियोंका चयन हिन्दी नवलेखनको प्रयोगवादसे

मिला है। वस्तुतः यह कहना ही कठिन है कि कब प्रयोगवाद समाप्त हुआ और कब नवलेखनका प्रारम्भ हो गया। किसी साहित्यिक अथवा कलात्मक आन्दोलनकी जन्म-तिथि निर्धारित करना आसान नहीं। यदि यह आन्दोलन किसी प्रतिक्रियाके रूपमें आरम्भ होता है तब तो उसका कुछ समय भी निश्चित किया जा सकता है। परन्तु यदि कोई आन्दोलन पिछली विचार-धाराका ही अधिक स्वस्थ तथा विकसित रूप है तो उसके प्रवर्तनका समय निश्चित करना बहुत कठिन है। प्रयोगवाद तथा नवलेखनका सम्बन्ध ऐसा ही है। इस दृष्टिसे प्रयोगवाद तथा नवलेखनको एकदम अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता, जिस प्रकारसे कि छायावाद तथा प्रगतिवादको अलग-अलग करके देखा जा सकता है। प्रयोगवाद, जैसा पहले कहा जा चुका है, नवलेखनकी भूमिका थी। परंतु इस सन्दर्भमें यह स्मरणीय है कि छायावादसे लेकर प्रयोगवाद तकसे सम्बद्ध होनेपर भी हिन्दी नवलेखनका एक अपना भिन्न तथा स्वतन्त्र व्यक्तित्व है।

यह तो हुई प्रगतिवाद तथा प्रयोगवादकी बात! जहाँ तक छायावाद-का सम्बन्ध है, नवलेखन उससे बहुत कुछ असंबद्ध होते हुए भी, उसकी कुछ प्रवृत्तियोंसे अलग नहीं किया जा सकता। हिन्दी नवलेखनमें तीन प्रकारके साहित्यिकोंका योग माना जा सकता है। पहला वर्ग ऐसे नव-लेखकोंका है, जिन्होंने साहित्य-सृजनका कार्य छायावादकी रोमांटिक भावना तथा प्रकृति-प्रेमकी पृष्ठभूमिमें प्रारंभ किया। ऐसे कवियों अथवा गद्यकारों-की रचनाओंमें छायावादका प्रभाव दूर तक दिखाई देता है। बादमें नव-लेखनकी विचार तथा रचना पद्धतिसे अभिभूत होकर बहुत कुछ अनजानेमें ही वे इस नये साहित्यिक क्षेत्रमें चले आये। इसी प्रकार दूसरे वर्गके लेखक प्रगतिवादसे नवलेखनमें आये। प्रयोगवादकी तो समग्ररूपमें अत्यन्त सहज ढंगसे नवलेखनमें परिणति हो गई। और इन दोके अतिरिक्त तीसरे वर्ग-में वे लेखक आते हैं, जिन्होंने साहित्य-सृजन पहले-पहल नवलेखनके वाता-वरणमें ही आरम्भ किया है। इस दृष्टिसे नवलेखनको छायावादी धारासे

एकदम असंपृक्त नहीं किया जा सकता। यह दूसरी बात है कि छाया-वादसे प्रारम्भ करनेवाले नवलेखकोंकी संख्या अपेक्षाकृत कम हो, क्योंकि हिन्दी नवलेखन प्रगतिवादसे सीधा सम्बद्ध है, तथा प्रयोगवादका अधिक विकसित तथा परिष्कृत रूप है। नवलेखनके तीसरे वर्गके लेखकोंकी संख्या बराबर बढ़ रही है।

संवेदनाके नवीन स्तर

[सांस्कृतिक पूर्वपीठिका]

इस अध्यायके अन्तर्गत हिन्दी नवलेखनकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमिका एक संक्षिप्त और संपृक्त अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। यह अध्ययन सांस्कृतिक परिस्थितियोंके साहित्यपर संघात (Impact) का विश्लेषण अधिक करेगा, उन परिस्थितियोंका यथातथ्य वर्णन करना उसका गौण उद्देश्य है। संस्कृतिके भिन्न-भिन्न तथा बदलते हुए तत्त्वोंसे आधुनिक संवेदनामें क्या परिवर्त्तन हुए हैं, इस प्रक्रियाका विवेचन नवलेखनके संगत सन्दर्भको समझनेके लिए अनिवार्य है। वस्तुतः प्रत्येक युगकी मानवीय संवेदनाका अपना सुगठित स्वरूप होता है, जिसका घनिष्ठ सम्बन्ध तत्कालीन साहित्यसे रहता है। संवेदनाकी इस मूल प्रकृतिको समझे बिना हम उस युगके साहित्यका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें समुचित विवेचन नहीं कर सकते।

हिन्दी नवलेखनकी संवेदनाको निर्मित करनेमें बहुतसे सांस्कृतिक तत्त्वोंका योग रहा है। इस सांस्कृतिक परिवेशके धार्मिक, दार्शनिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा राजनैतिक—सभी प्रकारके पक्ष हैं, जिनका एक संपृक्त अध्ययन ही उस संवेदनाके संश्लिष्ट स्वरूपको समझनेमें सहायक सिद्ध हो सकता है। साहित्यका सृजन शून्यमें नहीं होता; उसका एक ऐतिहासिक परिवेश होता है, जो तत्कालीन विचारकों तथा कलाकारोंकी रचनात्मक प्रक्रियासे घनिष्ट रूपसे सम्बद्ध रहता है। नवलेखनके सर्वथा नवीन स्वरूप तथा दृष्टिकोणको देखकर उसकी उतनी ही नयी सांस्कृतिक पृष्ठभूमिका अनुमान कर पाना सहज है।

दो महायुद्धोंके बीच संसारके सभी उन्नत देशोंमें एक नयी चेतनाका उदय हुआ। इस जागृतिका स्वरूप स्वचेतन अधिक था। विश्वके समूचे इतिहासमें इतने बड़े तथा जटिल परिवेशमें मानवीय नियतिके प्रति इतनी चिन्ता, इतना 'कन्सर्न' शायद अबसे पूर्व कभी प्रकट नहीं हुआ था। सभी देशोंके विचारकोंने यह अनुभव किया कि आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति अब एक ऐसे मोड़पर आ गई है, जहाँसे उसके लिए ज़रा भी पथभ्रष्ट होना नितान्त आत्मघातक सिद्ध होगा। हमारे देशके मनीषियोंने भी इस सामूहिक चिन्तनमें अपनी सम्पूर्ण गौरवमय परम्पराओंके साथ महत्त्वपूर्ण योग दान दिया। गांधी, रवीन्द्र, अरविन्द तथा नेहरू सभीने अपने-अपने ढंगसे इस संक्रान्ति-कालके निवारणके लिए सुझाव उपस्थित किये।

हिन्दीके नये लेखकने भी काफ़ी जागरूक होकर अपने परिवेशको समझनेका यत्न किया है। इस दृष्टिसे स्वचेतन रूपसे प्रथम बार व्यापक स्तरपर आधुनिक होनेका श्रेय प्रयोगवादको दिया जा सकता है। प्रयोग-वादके माध्यमसे हिन्दीमें साहित्य-दृष्टिने व्यापक रूप ग्रहण किया। जीवनके सभी स्तरोंकी अनुभूतियोंको साहित्यका वर्ण्य विषय मान लिया गया। मानव-मनमें गहरे पैठी हुई अनैतिकताके विभिन्न पहलुओंकी भी चर्चा इस युगके साहित्यकारने की। अपने सामाजिक दायित्वके पालन करनेमें उसने किसी वर्जनाको स्वीकार नहीं किया।

दो विश्व-युद्धोंने, जिनसे भारतका सम्बन्ध यद्यपि प्रत्यक्ष नहीं रहा, फिर भी जिनका गहरा प्रभाव उसके जन-जीवनपर पड़ा है, हमारे साहित्य-को प्रभावित किया है। युद्धकालीन परिस्थितियोंने देशके आर्थिक ढांचे तथा धार्मिक व्यवस्थाको एक बड़ी हदतक बदल दिया। आर्थिक क्षेत्रमें देश-व्यापी महँगाई तथा रुपयेके गिरते हुए मूल्यने शताब्दियोंसे चली आती हुई हमारी विनिमय-पद्धतिको चूर-चूर कर डाला। सिक्कोंका प्रचार तथा प्रभाव छोटे-से-छोटे गाँवोंमें दिखाई देने लगा। कुल मिलाकर देश आर्थिक दृष्टिसे विपन्न हो चला था। पूँजी बहुत थोड़ेसे हाथोंमें केन्द्रित होकर रह

गई। धनपर अधिकार पहले तो विदेशी शासकोंका था; उनसे छूटनेपर स्वदेशी पूँजीपति अपना नाम पूर्णतः सार्थक करते थे। जनता प्रायः जीवनकी सामान्य आवश्यकताओंसे वंचित थी। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक विपत्तियाँ भी देशकी अर्थ-व्यवस्थाको कभी-कभी विघटित कर रही थीं। अकाल बाढ़ तथा सूखेने इस कृषि-प्रधान राष्ट्रको बहुत निर्बल बना दिया। इन आर्थिक विषमताओंके बीच क्रांतिकारियों तथा साम्यवादियोंने विद्रोहकी आवाज़ उठाई। तत्कालीन कांग्रेस आन्दोलन भी जनताके इस आर्थिक खोखलेपनको भलीभाँति समझ रहा था।

युद्धकालीन परिस्थितियाँ सामान्य शांतिमय जीवनसे बहुत अधिक तेज़ तथा गतिमय होती हैं। युद्धकी मानसिक स्थितिने देशकी प्रचलित धर्म-व्यवस्थामें एक क्रांतिकारी परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया। खाने-पीने तथा अन्य सामान्य दैनिक जीवनके व्यवहारोंमें कट्टरता धीरे-धीरे समाप्त होने लगी। युद्धकी विभीषिका तथा असाधारण परिस्थितियोंने व्यक्तिके मनको बहुत-कुछ धर्म-निरपेक्ष, सेकुलर बना दिया। विज्ञानने जिस धार्मिक आस्थाका विघटन किया था, युद्धने उसे और आगे बढ़ाया। मनुष्य अब मात्र भाग्यवादसे संतुष्ट न रहकर मानवीय नियतिके प्रति अधिकाधिक चिंतित रहने लगा। अंग्रेज़ी राज्यकालमें जो एक विशिष्ट शिक्षित वर्ग (इण्टैलिजैंशिया) विकसित हो रहा था, वह धर्म अथवा ईश्वरके स्थान-पर व्यापक मानवतावादके अधिक निकट आ गया। अन्ध आस्थाका स्थान तर्क तथा बौद्धिकताने ले लिया। हिन्दी नवलेखनमें भी यह परिवर्तन उतनी ही मात्रामें द्रष्टव्य है, यद्यपि बौद्धिक होना परम्पराके लिए तिरस्कारका विषय हो जाता है। और इसी लिए हिंदीके परम्परावादी समीक्षकने नवलेखनको बौद्धिक कहकर उसकी भर्त्सना की।

धर्म व्यवस्थाके साथ-साथ सांस्कृतिक संघर्षमें पड़कर देशकी नैतिक मान्यताओंका भी विघटन प्रारम्भ हो गया। धर्म तथा ईश्वरमें लोगोंकी आस्था धीरे-धीरे कम हो रही थी, और इधर वैज्ञानिक मानवतावाद उन्हें

पूर्णतः संतोष नहीं दे पा रहा था। ऐसी परिस्थितियोंमें व्यक्तिका नैतिक आधार लुप्त हो गया। आर्थिक अभावोंने नैतिकताके इस विघटनको और अधिक तीव्र किया। फलतः देशमें बेईमानी, घूसखोरी, चोरबाज़ारी और इसी प्रकारके अन्य भ्रष्टाचारोंका ज़ोर बढ़ गया। साहित्यकारके लिए यह परिस्थिति बड़ी ख़तरनाक थी। विकृत आचरणोंके बीच नये तथा स्वस्थ नैतिक मूल्योंका निर्माण उसे करना था। समाजके पतनके संपर्कमें रहकर और किसी हद तक उससे प्रभावित भी होकर उसे नवीन आदर्श गढ़ने थे। और सच तो यह है कि बिना इन विकृतियोंके संघर्षके उदार मानवतावादका विकास होना कठिन था।

युद्धकालीन तथा युद्धोत्तर सामाजिक संगठन बहुत तेज़ीसे ढीला पड़ रहा था। जिन सामाजिक कुरीतियोंके विरोधमें प्रेमचन्दने आवाज़ उठाई थी, उनमेंसे बहुत-सी धीरे-धीरे नष्ट हो रही थीं। जाति-व्यवस्थाके चंगुल अब उतने क्रूर नहीं थे। नारी जाति सम्बन्धी आवश्यक सुधार समाजमें घर कर चले थे। अस्पृश्यताके मौलिक दोषोंसे भी लोग परिचित हो रहे थे। नारी जातिकी सामाजिक स्थिति संतोषप्रद थी, यह इस शतीके प्रारंभ में किये गये साहित्यिक तथा सांस्कृतिक आंदोलनोंका परिणाम था, और इसलिए विवेच्य युगके साहित्यकारको कमसे-कम इस दिशामें लगभग कुछ नहीं करना था—या जो कुछ करना भी था वह बहुत कम था। वैसे कुल मिलाकर इस युगका साहित्यकार इन सामाजिक परिस्थितियोंको अपने लिए बहुत महत्त्वपूर्ण माननेकी स्थितिमें न था। इस युगकी समस्याएँ सामाजिककी अपेक्षा मनोवैज्ञानिक, राजनैतिक तथा सैद्धांतिक अधिक थीं। आदर्शों तथा संस्कृतियोंका संघर्ष इस युगके साहित्यका प्रधान उपजीव्य था। सामाजिक संघर्षोंका स्थान अब सांप्रदायिक संघर्षने लिया था।

१९४० ई०के आस-पासकी भारतीय राजनीति तीव्र संघर्षमय थी। एक प्रकारसे कई दशकोंसे चले आनेवाले राजनीतिक संघर्षकी चरम सीमाका यह युग था। इस दाँवमें देशने अपना सर्वस्व लगा दिया था, और

अनिश्चय, सन्देह तथा अधीरताके साथ वह फलकी प्रतीक्षामें था। यह युग वस्तुतः राजनैतिक तथा आदर्शात्मक संक्रान्तिका युग था। अहिंसा, सशस्त्र क्रान्ति तथा आज़ादहिन्द फ़ौज सबने अपने कन्धे एक साथ मिला दिये थे। परन्तु देशकी स्वाधीनताके बाद यह स्थिति बिलकुल बदल गई। इन वर्षोंकी राजनीति मुख्यतः साम्प्रदायिक संघर्षोंपर आधारित थी। इन साम्प्रदायिक संघर्षों तथा विषम परिस्थितियोंने कुछ साहित्यिकोंको अपनी सारी ईमानदारीके साथ लिखनेके लिए प्रेरित किया और इन साहित्यकारोंने अपने इस दायित्वका निर्वाह भी पूरी ईमानदारीके साथ किया। शरणार्थी समस्यासे सम्बद्ध कुछ उत्कृष्ट रचनाएँ हिन्दी-नवलेखनमें मिलती हैं। इस वर्गका कृतित्व 'हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई' वाली 'राष्ट्रीय' कविताओंसे कहीं अधिक गहरे मानवीय भाव-बोधसे प्रेरित है।

१९४७ ई० के बाद इस साम्प्रदायिक राजनीतिके अतिरिक्त सैद्धांतिक राजनीति कदाचित् राष्ट्रका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न बन गई थी। साम्प्रदायिक समस्याएँ तात्कालिक थीं, परन्तु सिद्धान्तोंका यह संघर्ष दर्शन तथा मनोविज्ञानके स्तरपर चल रहा था। इस संघर्षमें एक ओर साम्यवाद तथा उसी प्रकारकी अन्य 'टोटेलिटेरियन' व्यवस्थाएँ थीं, और दूसरी ओर गांधीवाद, सर्वोदय तथा समाजवादके आदर्श थे। यह संघर्ष अब भी प्रायः यथावत् है, अन्तर केवल इतना है कि अब इन व्यवस्थाओंके प्रायः सभी पक्षोंपर गम्भीरताके साथ विचार हो चुका है। इस सारी सैद्धान्तिक चर्चाका मूल दर्शनकी उस जटिल तथा उलझी हुई स्थितिमें है, जिसमें व्यक्ति तथा समाजके पारस्परिक सम्बन्ध बहुत कुछ अनिश्चित तथा विवादास्पद बने हुए हैं।

हिन्दी लेखकके 'फ़्रस्ट्रेशन' की चर्चा प्रायः की जाती है। यदि पिछले दो दशकोंके हिन्दी लेखकोंके मनोविज्ञानका विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट दिखाई देगा कि कम-से-कम सन् १९५० तक उसकी मानसिक स्थिति अत्यन्त सन्तुलित तथा आशाप्रद रही है। स्वातंत्र्य पूर्वका उत्साह

अतुलनीय है। 'फ्रस्ट्रेशन' की तो जो भी स्थिति है वह पिछले कुछ वर्षोंकी उपज है। निराशा तथा अवसाद, स्वराज पूर्व युगका न होकर स्वराजोत्तर युगका है। 'फ्रस्ट्रेशन' अपने शासनमें होता है, विदेशी राज्यमें नहीं। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी लेखकके मनमें भ्रम उत्पन्न होनेका प्रधान कारण है प्रजातन्त्रके कुछ असफल प्रयोग। आजका नया लेखक इस सारी अव्यवस्था-के बीच-संश्लिष्ट मानवीय व्यक्तित्वकी खोजमें है। जिस प्रकार पिछले युगके सामाजिक पतनने मानवतावादके विकासमें सहायता दी थी, उसी प्रकार आधुनिक युगका 'फ्रस्ट्रेशन' इस मानवीय व्यक्तित्वके पुनरन्वेषणमें सहायक होगा। इस दृष्टिसे यह 'फ्रस्ट्रेशन' किसी हद तक वांछनीय भी है। यही पुनरन्वेषण नवलेखनका प्रधान लक्ष्य है; और हिन्दी-नवलेखन उद्देश्यपूर्ण है, कम-से-कम इसे माननेमें आज कोई इनकार नहीं कर सकता। चतुर्मुख जागरूकता आजके नये लेखककी संवेदनाकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसीलिए अपने अन्य सामान्य दायित्वोंके बावजूद वह पूर्ण समयका कलाकार है, केवल प्रेरणाके क्षणोंका नहीं।

नयी कविता

नयी कविता हिन्दी नवलेखनका प्रवेश-द्वार रही है। वास्तविकता तो यह है कि हिन्दी नवलेखनके मौलिक तत्त्व अब भी नयी कवितामें ही सबसे अधिक द्रष्टव्य हैं। प्रयोगवाद प्रमुखतः कविताका आन्दोलन था, जो बादमें नयी कविताके रूपमें परिणत हो गया। और फिर नयी कविताके प्रवाहने धीरे-धीरे नवलेखनका रूप धारण कर लिया।

ऐतिहासिक दृष्टिसे हिन्दी कवितामें आधुनिकताका प्रवेश अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'तार सप्तक' (१९४३ ई०) के प्रकाशनके साथ होता है। यही नवलेखनके प्रारम्भकी तिथि मानी जा सकती है। स्वचेतनता तथा आधुनिकता इस नवीन साहित्य चेतनाकी अन्यतम विशेषताएँ थीं। कविता मात्र प्रेरणाका क्षण नहीं रह गई थी; कविने अपने दायित्वका अनुभव करना प्रारम्भ कर दिया था। इस क्षेत्रमें प्रगतिवादका दिशा-संकेत महत्त्वपूर्ण है।

जहाँतक तिथियोंका सम्बन्ध है, 'तारसप्तक' के उपरान्त 'दूसरा सप्तक' (१९५१ ई०) का प्रकाशन नयी कविताके इतिहासमें दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना है। 'तारसप्तक' के कवि थे—रामविलास शर्मा, गिरिजा-कुमार माथुर, नेमिचन्द्र जैन, प्रभाकर माचवे, गजानन माधव मुक्तिबोध, भारतभूषण अग्रवाल तथा अज्ञेय। 'दूसरा सप्तक' के कवि थे—नरेश मेहता, भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्त माथुर, हरि व्यास, शमशेरबहादुर सिंह, रघुवीर सहाय तथा धर्मवीर भारती। इन सप्तक कवियोंके बारेमें दो तथ्य विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं—एक तो यह कि इन कवियोंमेंसे अधिकांश

जीवनके क्षेत्रमें मार्क्सवाद तथा साहित्यके क्षेत्रमें प्रगतिवादके किसी-न-किसी रूपमें अधिक निकट थे। दूसरी बात यह कि इन कवियोंमेंसे सभी काव्यके क्षेत्रमें बहुत दूरतक न चल सके। इनमेंसे कई कवियोंका योग तो प्रायः सप्तक-संकलनोंमें ही सीमित रहा।

दो सप्तकोंके अतिरिक्त नये प्रकारकी कविताके विकासमें अज्ञेय द्वारा सम्पादित त्रैमासिक तथा फिर बादमें मासिक 'प्रतीक' (१९४६ ई०) का महत्त्वपूर्ण योग रहा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नयी कविताके पूर्व रूप प्रयोगवादके क्षेत्रमें अज्ञेयका व्यक्तित्व अप्रतिम है। प्रयोगवाद अपनी सारी शक्ति तथा सम्भावनाओंकी अभिव्यक्ति अकेले अज्ञेयके माध्यमसे पा सका। यह अवश्य है कि नयी कविताकी दृष्टिसे प्रयोगवादके प्रवर्त्तकको भी बहुत दूर तक आधुनिक नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः नयी कविताके विकासके साथ स्वतः अज्ञेयने युगकी आवश्यकताओंके अनुकूल अपने काव्य-व्यक्तित्वका परिष्कार किया।

'तारसप्तक'से लेकर 'प्रतीक' तक प्रयोगवादकी यात्रा तथा उपलब्धि रही। नयी कविता (तथा नवलेखन) की प्रथम अनुभूति पहले रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा तथा फिर लक्ष्मीकान्त वर्माके सहयोगमें सम्पादित 'नये पत्ते' (१९५३ ई०) के माध्यमसे हुई। इस अनुभूतिका आधिकारिक तथा प्रामाणिक रूप 'नयी कविता' (१९५४ ई०, डॉ० जगदीश गुप्त तथा रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा तथा फिर बादमें विजयदेवनारायण साहीके सहयोगमें सम्पादित) में अभिव्यक्ति पा सका। प्रयागके नये लेखकोंकी सहकारी संस्था 'साहित्य सहयोग' के तत्त्वावधानमें 'नयी कविता'के प्रकाशनने इस काव्य-आन्दोलनको पूरे आत्मविश्वास, सजगता तथा दृढ़ताके साथ स्थापित कर दिया। 'नयी कविता' ने नये कवियोंकी रचनाओंको प्रस्तुत करनेके साथ-साथ नयी काव्य-प्रवृत्तियोंका गम्भीर विवेचन भी किया। 'साहित्य सहयोग'के तत्त्वावधानमें ही १९५५ ई० में प्रकाशित धर्मवीर भारती तथा लक्ष्मीकांत वर्मा द्वारा सम्पादित 'निकष' ने हिन्दी-नवलेखनके

चतुर्मुखी रूपको उसके वास्तविक तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें प्रस्तुत किया। 'निकष' वस्तुतः नवलेखनके प्रारम्भका अन्त है।

नयी कविताका गहरा विरोध हिन्दी साहित्यमें होना स्वाभाविक था, क्योंकि अभी तो उसमें छायावादको ही अमान्य करनेवाले व्यक्ति उपस्थित थे। परन्तु नयी कविताके चतुर्मुखी विरोधने इस आन्दोलनके सहयोगियों-को आत्मालोचन तथा पुनरन्वेषणका पूरा अवसर दिया। वस्तुतः इस विरोधके विना नयी कविताका विकास बहुत कुछ पिछड़ जाता। जिन कवियोंने कुछ शंकित मनसे इस नयी काव्य प्रवृत्तिका अनुसरण किया था, वे भी इस विरोधके बाद नयी कविताके लिए आश्वस्त हो गये। कई नये कवियोंके व्यक्तिगत संकलन प्रकाशित हुए, 'नयी कविता'के अनुकरणपर बहुत-सी पुस्तक-पत्रिकाएँ जन्मीं, सामान्य पत्र-पत्रिकाओंने नयी कविताओंको अधिक आत्मविश्वासके साथ छापना प्रारम्भ किया—और इस प्रकार नयी कविताका स्थान हिन्दी साहित्यके इतिहासमें सुनिश्चित हो गया। नयी कविताके पक्षधरीय तथा विरोधी समीक्षाओंने उसकी मर्यादाको एक व्यव-स्थित रूप दिया तथा समसामयिक साहित्यमें नयी कविताको सर्वाधिक चर्चित विषय बना दिया। पर ये चर्चाएँ नयी कविताकी प्रतिष्ठाके बाद की थीं।

नयी कविताके व्यवस्थित अध्ययनसे उसकी कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ स्पष्ट होती हैं। इन प्रवृत्तियोंको संक्षेपमें यों प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) सामान्य वस्तुओं तथा अकिंचन परिस्थितियोंसे रागात्मक संबंध।

(२) गहरे तथा तीखे व्यंग (Satise, irony) की प्रवृत्ति, परन्तु ऐसा व्यंग जो जीवनके प्रति एक रचनात्मक दृष्टिकोण दे सके।

(३) नयी छंद-योजना; शब्दोंके ध्वन्यात्मक तथा आंतरिक अर्थोंका समन्वय करते हुए।

(४) बिखरे भाव-चित्रों तथा मुक्त साहचर्यका निस्संकोच प्रयोग।

(९) एक नये व्यापक तथा उदार मानवतावादी दृष्टिकोणको विकसित करनेका अथक प्रयास—सामान्य जन-जीवनके प्रति एक अनिवार्य 'कन्सर्न'-की भावना। मुखौटोंकी संस्कृतिके प्रति आशंका और आक्रोश।

नयी कविताके ये सभी लक्षण कविताको मूलतः प्रेरणामूलक माननेवाले सिद्धांतको प्रायः अमान्य करते हैं। इसके उत्तरमें नयी कविताको बौद्धिक कहकर उसका तिरस्कार किया जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज नयी कविताका धरातल काफ़ी हद तक बौद्धिक है, पर क्या वह तिरस्कार-का विषय हो सकता है, यह विचारणीय है। इस प्रसंगमें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बौद्धिकता आधुनिक युगकी अनिवार्यता है, और साहित्य तथा कविता इस युग-प्रवृत्तिसे निस्संग नहीं रह सकते। नयी कविताके युगमें छायावादी गीतोंकी कल्पना वैसी ही है जैसी कि जेट हवाई जहाज़के युगमें बैलगाड़ीकी। परन्तु हमारा देश समन्वय तथा सह-अस्तित्वका देश है। यहाँ जेट और बैलगाड़ी तथा नयी कविता और शुद्ध (?) छायावादी गीत एक साथ चलते हैं।

बौद्धिकताके प्रसंगमें नवलेखनकी चर्चा अलगसे की जायगी।

× × ×

अज्ञेय (१९११ ई०)का काव्य-व्यक्तित्व नयी कविताकी अनिवार्य पृष्ठभूमि है। वे प्रयोगवादके प्रवर्त्तक थे, परन्तु नयी कविताने उन्हें कुछ पीछे छोड़ दिया, यद्यपि इस व्यवधानको अपनी तीक्ष्ण गतिसे फिर उन्होंने बहुत कुछ दूर कर लिया है। नयी कविता वस्तुतः 'सामूहिक नेतृत्वका' फल है। इसीलिए प्रयोगवादका प्रवर्त्तक नयी कविताके साथ है, उसका नेता तथा दिशा-निर्देशक नहीं! अज्ञेय द्वारा प्रवर्तित आंदोलन आज स्वतः उनसे बहुत बड़ा हो गया है।

अज्ञेयके काव्यकी दुरूहता उनके पाठकका ध्यान सर्वप्रथम आकृष्ट करती है। यह दुरूहता दो कारणोंसे हो सकती है—शब्दोंको लेकर कविकी मित-

व्ययिता तथा भाव और शिल्पका असामंजस्य। दुरूहता निश्चय ही एक
सापेक्ष्य भाव है। सर्वेश्वर, लक्ष्मीकांत वर्मा, गिरिजाकुमार माथुर, भवानी
मिश्र, धर्मवीर भारती प्रभृति कवियोंकी तुलनामें अज्ञेयके काव्य-अभिप्राय
तथा बहुतसे स्थलोंपर उनका अभिप्रेत—कमसे कम एक सामान्यतः दीक्षित
पाठकके लिए—प्रायः अस्पष्ट रह जाता है। एक नयी काव्य-परिपाटीका
प्रवर्त्तक होना अज्ञेयके अपने साहित्यिक रस-बोधकी दृष्टिसे स्वतः उनके
लिए इस प्रसंगमें बहुत हितकर सिद्ध नहीं हुआ। जाने अथवा अनजानेका
उनका यह आत्मत्याग उनके व्यक्तित्वकी महत्ताका सूचक है।

अज्ञेयकी जिस दुरूहताकी ओर हमने संकेत किया, उसका एक तीसरा
कारण भी हो सकता है; और वह है उनके काव्यमें आभिजात्य तथा लोक-
संस्कृतिका सम्मिश्रण। यह दुर्वलता अथवा क्षमता, जो भी हो, आजके
बौद्धिक वर्गकी प्रमुख विशेषता है। युगके अनेक अन्तर्द्वन्द्वोंमेंसे यह अंत-
र्द्वन्द्व काफ़ी महत्त्वपूर्ण तथा सबसे अधिक अस्पष्ट है। अज्ञेयमें यह प्रवृत्ति
भाषा, भाव तथा शिल्पके विभिन्न स्तरोंपर मिलती है। हवाई उड़ानकी
यात्राके अनुभवसे लेकर काँगड़ेकी छोरियाँ तक उनके दृष्टि-परिवेशमें आ
जाती हैं। और ये सभी अनुभूतियाँ प्रायः समान भावसे उनके रागात्मक
संबंधकी अधिकारिणी हैं। लगभग यही स्थिति उनके प्रतीकों, अभिप्रायों
तथा भाव-चित्रोंकी है। यही नहीं प्रायः उनकी एक ही कवितामें उक्त
दोनों प्रवृत्तियाँ एक-दूसरेपर आरोपित हो जाती हैं। ऐसे स्थल उनके
सामान्य पाठककी संवेदनाके लिए सहज ग्राह्य नहीं हो पाते।

छायावादके समसामयिक समीक्षकोंने उसे मात्र एक शैलीगत आंदो-
लन माना था। नयी कविताके प्रसंगमें भी यह भूल प्रायः दुहराई जाती
है। वास्तविकता यह है कि नयी कविताकी आधारशिला परिवर्त्तित
विचार-धारा है, शिल्प संबंधी नवीनता प्रारम्भिक प्रेरक शक्ति भले हो।
नयी कविताकी प्रवृत्तियोंमें मानवतावादका महत्त्वपूर्ण स्थान है। अज्ञेयने
व्यक्तिके सामाजीकरणपर विशेष बल दिया है। उनकी कविता 'यह दीप

अकेला' का इस दृष्टिसे ऐतिहासिक महत्त्व है। कविताका प्रारम्भिक अंश है—

यह दीप अकेला स्नेह-भरा
है गर्व-भरा मदमाता, पर,
इसको भी पंक्तिको दे दो !

यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा ?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा ?
यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला सुलगायेगा।

यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह दीप, अकेला, स्नेह-भरा,
है गर्व-भरा मदमाता, पर,
इसको भी पंक्तिको दे दो !

अज्ञेयकी यह कविता आधुनिकता, स्वचेतनता तथा बौद्धिकता—नयी कविताकी तीनों प्रधान प्रवृत्तियोंकी सशक्त अभिव्यक्ति है। कवि अपने सामान्य व्यक्तित्व तथा अपने काव्य व्यक्तित्वके अतिरिक्त दायित्वकी अनुभूति कविताके नये आयामोंके माध्यमसे व्यक्त करता है। कविता अब उसके लिए मात्र आनन्द-उपभोगकी वस्तु न रहकर जीवनके गहन अर्थों तथा भाव-स्तरोंके साथ संपृक्त हो गई है। अज्ञेयको व्यक्तिवादी (individualist) कहकर उनका तिरस्कार प्रायः किया गया है; पर ऐसा वे ही कर सके हैं जो अपनी सीमित दृष्टिके कारण व्यक्तिवादी (individualist) तथा व्यक्तित्ववादी (personalist) के बीच अन्तरको नहीं समझ सके। अज्ञेयकी दृष्टि व्यक्तित्वको प्रधान मानकर चलती है, ऐसा व्यक्तित्व जो 'गर्वभरा' तथा 'मदमाता' होनेपर भी स्वतः 'विसर्जित' है। दायित्वका अनुभव करने तथा उसे पूर्ण करनेकी अन्ततः क्षमता मानव व्यक्तित्वमें ही होती है।

शिल्पकी दृष्टिसे अज्ञेयकी कवितामें जो रूखापन-खुरदरापन है, वह विशेष रूपसे द्रष्टव्य तथा आस्वाद्य है। इस प्रसंगमें उनके काव्य-शिल्पकी गद्य-शिल्पसे तुलना रोचक सिद्ध होती है। 'शेखर : एक जीवनी' अथवा 'नदीके द्वीप' का समर्थ गद्य तथा शिल्पका निखार उनकी कविताओंमें प्रायः नहीं मिलता। ध्वनि क्रम, शब्द संयोजन, प्रतीक अथवा भावचित्रके चयन आदि सभी दृष्टियोंसे उनके काव्यमें कुछ ऐसा है जो कोमल अथवा सुकुमार नहीं कहा जा सकता। शिल्पकी यह प्रणाली निश्चय ही नयी कविताकी अपनी है। पर, जैसा कहा गया, अज्ञेयका गद्य बहुशिल्पित, कोमल तथा सुकुमार है। वस्तुतः अज्ञेयकी कवितामें शिल्प बहुत कुछ इस अर्थमें है कि उसमें प्रयत्नज तथा बाह्यतः शिल्प-हीनता है।

अज्ञेयकी जिस काव्य दुरूहताकी ऊपर चर्चा की गई वह उनके शब्द-चयनके कारण नहीं है। उनकी भाषा तो प्रायः बोलचालके स्तरकी है—विशेष रूपसे वाक्य-विन्यास तथा शब्द-समूहकी दृष्टिसे। इसीलिए उनकी प्रत्युत्तरके रूपमें लिखित कविताएँ भी विशिष्ट कवित्वसे हीन नहीं हैं। 'मेरे आह्वानसे चौंको मत' तथा 'नयी कविता : एक सम्भाव्य भूमिका' इस वर्गके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। सामान्य जनजीवनके स्तरकी भाषा जीवनके व्यापक रूपको चित्रित करनेके लिए नयी कविताका अत्यन्त सशक्त माध्यम सिद्ध हुई है।

अपने प्रारम्भिक कालमें अज्ञेयका विषय-चयन अपेक्षाकृत सीमित जान पड़ता है। 'हरी घासपर क्षणभर' (१९४९ ई०) 'बावरा अहेरी' (१९५४ ई०) तथा 'इन्द्र धनु रौंदे हुए ये' (१९५६ ई०) शीर्षक काव्य संकलनोंमें विषयकी व्यापकता उत्तरोत्तर बढ़ी है। यह प्रयोगवादसे नयी कविताका विकास-क्रम है। लक्ष्मीकान्त वर्माकी 'मृतआत्माकी वसीयत' नयी कविताके तत्त्वावधानमें ही लिखी जा सकती थी; प्रयोगवादके आभि-जात्यका वातावरण उसके लिए बहुत कुछ अनुपयुक्त होता। प्रयोगवादके

आभिजात्य तथा नयी कविताकी लोक संपृक्तिके बीच अज्ञेयका काव्य व्यक्तित्व अवस्थित है।

नयी कविताकी लोक संपृक्तिका वास्तविक प्रतिनिधि सर्वेश्वर (१९२७ ई०) को कहा जा सकता है। शिल्प तथा भावविधानकी अभिन्नताका प्रायः आदर्श स्वरूप सर्वेश्वरकी रचनामें दिखाई देता है। मानव जीवनके गम्भीर तथा व्यापक सत्योंको निकटसे छूनेकी क्षमता उनमें है, पर इसके बावजूद उनकी संवेदनीयता सर्वत्र अक्षुण्ण है। नयी कविताका शिल्प बहुचिन्तित नहीं हो सकता, पर वह सर्वथा अनगढ़ भी नहीं होता। सर्वेश्वरने इस शिल्प प्रणालीके आन्तरिक तत्त्वोंको गहराईसे समझा है, तथा उसके विकासमें महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। भावगत लोकसंपृक्ति तथा शिल्पगत सादगी सर्वेश्वरकी कविताके विशिष्ट गुण हैं। उनकी कविताएँ प्रायः सर्वथा नवीन प्रतीकों (सरकण्डेकी गाड़ी, घास काटनेकी मशीन, काठकी घण्टियाँ) पर आश्रित हैं। पर उनका बिम्ब-विधान (imagery) उतना नया नहीं है।

कालक्रमानुसार उनकी रचनाओंके परीक्षणसे उनके विकासकी भाव-भूमियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सर्वेश्वरका व्यक्तित्व प्रारम्भसे ही अत्यन्त पुष्ट रहा है। 'दो अगरकी बत्तियाँ', 'सरकण्डेकी गाड़ी' तथा 'घास काटनेकी मशीन' जैसी प्रौढ़ रचनाएँ नयी कविताके प्रारम्भिक शक्तिसंवेगकी परिचायक हैं। सर्वेश्वरने नयी कविता नहीं लिखी वरन् स्वतः नयी कविताके विशिष्ट लक्षण किसी हद तक सर्वेश्वरके काव्यके माध्यमसे प्रस्फुटित हुए हैं। पर यह भी सही है कि सर्वेश्वरका सफल कृतित्व एक निश्चित वातावरणमें प्रस्तुत हुआ है; उस विशिष्ट वातावरणके बाहर वे बहुत सफल नहीं हो सके हैं।

सर्वेश्वरके कृतित्वकी एक प्रमुख विशेषता यह है कि उनकी प्रायः सभी रचनाएँ एक निश्चित स्तरसे नीचे नहीं गिरतीं। और यह स्तर स्वतः अपने आपमें काफ़ी ऊँचा है। यह तथ्य उनके समृद्ध तथा सुगठित काव्य व्यक्ति-

त्वका द्योतक है। जिस लोकसंपृक्तिका उल्लेख अभी किया गया वह सर्वेश्वरके सतत जीवन्त रहनेका एक प्रधान कारण है। जीवनके विभिन्न पहलुओंमें सक्रिय रुचि उनके पाठकके लिए विशेष रूपसे सन्तोषप्रद है। वस्तुतः सर्वेश्वरके लिए मानव-जीवन किसी भी काव्यसे अधिक महान् है। उनकी यह दृष्टि 'लिपटा रज़ाईमें' शीर्षक कवितामें अभिव्यक्त हुई है।

प्रजातन्त्र तथा व्यापक मानवतावाद, लोकसम्पृक्ति तथा नयी कविता आज एक दूसरेसे अनिवार्य रूपसे सम्बद्ध हैं। ये सभी आधुनिक युगकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। नयी कविता मानो प्रथम तीन प्रवृत्तियोंकी सहज परिणति है। प्रजातन्त्र तथा मानवतावाद प्रमुखतः राजनीति तथा दर्शनके क्षेत्रसे सम्बद्ध हैं; लोकसंपृक्ति नये साहित्यकी विशिष्ट दृष्टि है। हिन्दीकी नयी कवितामें जो लोकसम्पृक्तिकी भावना है, वह अपनी प्रकृतिमें नितान्त आधुनिक है। सर्वेश्वरमें यह लोकसम्पृक्ति व्यक्तित्वके एक सहज गुणके रूपमें विकसित हुई है। युद्ध, शान्ति, खाद्यसमस्या, साम्यवाद तथा खाली बैठेके काम—इन सभी मानवीय परिस्थितियोंके प्रति उनकी चिन्तना है। साधारण व्यक्तिकी साधारण तथा कभी-कभी असाधारण-समस्याएँ उनके काव्यका प्रधान उपजीव्य हैं। जीवनकी सभी संगत परिस्थितियाँ कविको प्रेरणा दे सकती हैं। नये वर्षके आगमनपर वह सबके लिए शुभ-चिन्तना करता है—

> नया वर्ष····
> लोहारोंकी दहकती हुई भट्ठियोंसे
> भोरका आलोक फैला सके,
> काष्ठशिल्पियोंके रन्दों और बसूलोंसे
> राजगीरोंकी छेनियों और हथौड़ोंसे
> भोरका संगीत गुंजा सके।
> नया वर्ष···
> धोबियोंके पाटोंमें

मल्लाहोंके डाँड़ोंमें
गतिके घुँघरू बाँध सके।
नया वर्ष....
उन तमाम खेतोंमें जा सके
जहाँ हरी फ़सलें हों
उन तमाम खलिहानोंमें नाच सके
जहाँ पकी बालियाँ हों
उन सभी घरोंमें सज सके
जहाँ अन्नकी ढेरियाँ हों,
उन सभी दिलोंमें सो सके
जहाँ सुख और शान्ति हो।
नया वर्ष सबका हो
हर घरका, हर खेतका
हर खलिहानका, हर दिलका।

लोकसम्पृक्तिकी भावनापर आधारित यह मानो नयी कविताका 'मेनीफ़ेस्टो' कहा जा सकता है।

मानव जीवनके आधुनिक सन्दर्भमें तथा लोकसम्पृक्तिके गहरे भावस्तर-पर नये कविने वेदना तथा यातनाके महत्त्वको समझा है। 'शेखर : एक जीवनी' की भूमिकामें अज्ञेयका कथन कि यातनामें एक शक्ति होती है जो द्रष्टा बनाती है, तथा उनकी कविता ('नदीके द्वीप' का 'फ्रण्टि-स्पीस' भी)—

दुःख सबको माँजता है
और—
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु—
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।

वेदनाकी प्रतिक्रिया स्वरूप दयाको नहीं वरन् पुष्ट करुणाको उभा-रती है। हिन्दीका नया कवि वेदनाको छायावादी दृष्टिसे अवश दयाके रूपमें नहीं देखता वरन् आजके मानवतावादी स्तरपर उसकी नितान्त संगतिको पहचानता है। सर्वेश्वरने यातनाको सहनशीलताके रूपमें देखा है, जो उनके दृष्टिकोणकी रचनात्मकताकी परिचायक है, तथा जीवनकी जय घोषित करनेवाले दर्शनका मूल सूत्र है। अस्पतालकी एक नर्समें मानवता-वादकी व्यापक भावभूमि उन्होंने देखी है। इस व्यक्तित्वसे कविको सहनेकी प्रेरणा मिलती है—दुःख-दर्दको सहनेकी, समग्र जीवनको सहनेकी। निराशा अथवा पलायनकी स्थिति सर्वेश्वरमें नहीं मिलती। जीवनके प्रति उनका अनुराग सहज है, आस्था अडिग है।

आधुनिक जीवन-क्रममें सबसे अधिक अव्यवस्था तथा अशान्ति गरम तथा ठण्डे युद्धोंने उत्पन्न की है। सर्वेश्वरने इस तथ्यका अनुभव भली भाँति किया है। इस प्रसंगमें उनकी चिन्ता राजनैतिक स्तरकी नहीं वरन् शुद्ध मानवीय है। उनकी शान्ति सम्बन्धी कई कविताओंका ऐतिहासिक महत्त्व है। 'कलाकार और सिपाही,' 'बेबीका टैंक', 'सिपाहियोंका गीत', 'पीस पैगोडा' आदि रचनाएँ उनके कृतित्वको गरिमा प्रदान करती हैं। 'पीस पैगोडा' का अन्तिम अंश है—

> क्योंकि रामका नाम लेनेसे जब पापी तर जाते हैं,
> तो क्या शान्तिका नाम रटनेसे
> युद्ध नहीं रुकेंगे ?
> जरूर मेरे दोस्त !
> मेरी बधाई स्वीकार करो,
> और इस बार यदि फिर
> 'पीस पैगोडा' बनाना पड़े
> तो बौद्ध भिक्षुओंके गैरिक वसनोंको न भूलना,
> क्योंकि उन ढीले चोग़ोंके नीचे

बड़ी-बड़ी 'ऑटोमैटिक राइफल्स' तक
आसानीसे छिपाई जा सकती हैं।

व्यंग्यके माध्यमसे कविता इतनी प्रभावपूर्ण बन सकती है, यह सर्वेश्वर-के कृतित्वसे ही जाना जा सकता है। जहाँ तक विषयका सम्बन्ध है, यह रचना नयी कविताके अन्तर्राष्ट्रीय स्तरकी द्योतक है। आज सभी देशोंके साहित्यकी जागरूकता प्रायः एक प्रकारकी है, उनके कलाकारोंकी समस्याएँ एक जैसी हैं। इसीलिए नवलेखनका आन्दोलन विदेशी प्रभावकी दृष्टिसे नहीं देखा जा सकता; वह आधुनिक युगीन संवेदनाकी सशक्त अभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्तिके उपकरण विभिन्न देशोंमें अलग-अलग हो सकते हैं, पर नयी कविताकी मूल स्थापनाएँ सर्वत्र एक-जैसी हैं।

नयी कविताके प्रसंगमें दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम लक्ष्मीकान्त वर्मा (१९२१ ई०) का है। सर्वेश्वरकी तुलनामें लक्ष्मीकान्तका कृतित्व स्थानीय अधिक है। अपने विषय-चयनमें वे जीवनकी अकिंचन परिस्थितियोंकी ओर अधिक आकृष्ट हैं। उनकी लोक-संपृक्ति अपेक्षाकृत सीमित क्षेत्रमें होती हुई भी मानवीय भावभूमिके गहरे स्तरोंको स्पर्श करती है। नागरिकतामें उनकी सहज अरुचि है; इसीलिए उनका शिल्प तथा विषय-चयन सर्वथा आभिजात्य विहीन है।

लक्ष्मीकान्तने अपने विषय, प्रतीक तथा अभिप्राय प्रायः जीवनके अप-रिचित अथवा कम परिचित क्षेत्रोंसे लिये हैं। उनकी दृष्टि एक साथ ही गहरी तथा व्यापक है। इसीलिए उनकी कविताएँ अलग-अलग चित्रोंके समान होती हुई भी एक मौलिक संवेदनासूत्रके कारण एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। लक्ष्मीकान्त मुख्यतः सहानुभूतिके कवि हैं। आक्रोश अथवा तीखा व्यंग उनके काव्य व्यक्तित्वके सहज गुण नहीं कहे जा सकते। इस सहानु-भूतिकी भावनाने उनकी कविताओंको बहुत कुछ वैयक्तिक रूप दे दिया है, पर साथ ही उन्हें पाठकके लिए सहज संवेद्य भी बना दिया है। नयी कविताके तत्त्वावधानमें यह वैयक्तिक तथा सामाजिकका एकीकरण है।

कई दृष्टियोंसे लक्ष्मीकान्त नयी कविताकी मौलिक प्रकृतिके अत्यन्त निकट हैं। विषय-चयनमें आभिजात्यहीनता, भाषाका प्रायः अनगढ़ रूप, तथा शिल्पके क्षेत्रमें यान्त्रिक परिपूर्णताका अभाव लक्ष्मीकान्तके कृतित्वकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। सर्वथा अछूती परिस्थितियोंको चित्रित करना उन्हें विशेष प्रिय है। 'हस्ताक्षर' उनकी बहुचर्चित कविता है—

मैं आज भी जिंदा हूँ
उस हस्ताक्षरकी भाँति
जो मज़ाक-मजाकमें यों ही किसी वट-वृक्षके नीचे
पिकनिक, तफ़रीहमें लिख दिया गया था
एक तेज़ धार वाले फ़ौलादकी नोक
अब भी मेरी छातीमें गड़ी है
और उस वट-वृक्षका घायल सीना
उस दाग़की रक्षा हर मौसममें करता है
छिली हुई पपड़ीपर छाल चढ़ जाती है,
दुधियारे पत्तोंमें बात बस जाती है
जटाएँ भी झुकती हैं भूतलको छूती हैं
चरवाहेकी वंशीकी टेर भटक जाती है
मगर
एक मैं हूँ : फ़ौलादकी थाती लिये
जीता हूँ—
मैं आज भी जिन्दा हूँ !

सर्वेश्वर नयी कविताकी उपलब्धिके प्रतीक हैं, लक्ष्मीकान्त सम्भावनाओंके। संवेदनाके अनेकानेक नवीन स्तर लक्ष्मीकान्तके काव्यमें दिखाई देते हैं, जिनका अन्वेषण तथा पुनरन्वेषण अभी नये कवियों द्वारा होना है। परिष्कारहीन शिल्पकी नयी दिशाएँ भी उन्होंने खोली हैं, और इस क्षेत्रमें उनकी 'अन्वेषी' प्रवृत्ति सतत गतिशील है। इस अन्वेषी प्रवृत्तिके कारण

ही उनके कृतित्वकी मात्रा अधिक है, जिससे उनके काव्यके विभिन्न कलात्मक स्तर देखनेको मिलते हैं। प्रयोगमें लक्ष्मीकान्तकी चिर आस्था है। इसलिए एक ओर जहाँ उनकी काव्य-शैली सदैव जीवन्त रहती है, वहीं दूसरी ओर उनकी कविताका एक निश्चित स्वरूप नहीं उभर पाता।

लक्ष्मीकान्तने अपने लिए काव्य-उपकरण अत्यन्त स्वल्प रखे हैं। छन्द तथा तुकके आगे वे सम्भवतः लयका भी बहुत सहारा नहीं लेना चाहते। उनकी अधिकांश रचनाओंको सुविधापूर्वक गद्य कविता कहा जा सकता है। इस नये तथा अपेक्षाकृत कठिन माध्यमका प्रयोग उन्होंने सफलतापूर्वक किया है। ध्वन्यात्मक लयके स्थानपर उन्होंने भावात्मक तन्मयताको स्थानापन्न किया है, जिसका घनीभूत स्वरूप ही अन्ततः कविताका मौलिक तत्त्व है। इस दृष्टिसे उनकी संवेदनात्मक गहराई नयी कविताकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धिकी द्योतक है। यहाँ स्मरणीय है कि उनके गहरे भाव-बोधके आलम्बन प्रायः जीवनकी नितान्त साधारण तथा अकिंचन परिस्थितियोंसे लिये गये हैं। 'मृत आत्माकी वसीयत' शीर्षक कवितामें गायका दूध दुहनेके लिए प्रयुक्त भूसा भरे मृत बछड़ेके प्रतीकके माध्यमसे उन्होंने मानव-जीवनके घोर स्वार्थ-संघर्षकी ओर बड़े मर्मस्पर्शी ढंगसे संकेत किया है।

नयी कविताके प्रसंगमें शमशेरबहादुर सिंह (१९११ ई०) का अपना विशिष्ट व्यक्तित्व है। शमशेरकी कविताएँ अतियथार्थवादी चित्रोंका स्मरण दिलाती हैं। चित्रकार वे स्वतः हैं भी। कमसे-कम शब्दोंका प्रयोग करके एक पूर्ण भाव-चित्र उपस्थित करना उन्हें विशेष रूपसे प्रिय है। फलतः उनकी कविताएँ पाठकके लिए सर्वत्र सहज संवेद्य नहीं हो पातीं। फिर भी उनके भावचित्र प्रभावपूर्ण होते हैं। उनकी एक कविता है 'तुम'—

चित्रकारीके
रंगोंमें बन
स्वयं
फैल-फैल मैं गया

हूँ, कहाँ-कहाँ !
कविता
मैं हूँ अब; वह था कल....
होगी कल—यह दुनिया
मेरे जीवनमें।
आओ—ले जाओ
मुझसे मेरा
प्रणयका धन
सर्व :
वह है सब तुम्हारा ही—
तुम—
वह 'तुम' है।

शमशेरकी इस प्रकारकी कविताओंका शिल्प-विधान बहुचर्चित अमेरिकन कवि ई० ई० कमिंग्ज़का अनायास स्मरण दिलाता है। लक्ष्मीकान्त-ने भी कुछ इस प्रकारके प्रयोग किये हैं, पर शमशेरकी यह शिल्प-प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक सहज लगती है।

शमशेर प्रगतिवाद-प्रयोगवादसे नयी कवितामें आये हैं। उनका दृष्टिकोण कदाचित् अब भी मूलतः प्रगतिवादी ही है। पर उनकी कविताओंमें 'सोशल कण्टेण्ट' प्रायः बहुत उभर नहीं सका है। उनकी कोमल काव्य-प्रकृति प्रगतिवादकी परुषताके साथ मेल नहीं खाती। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य-में भी शमशेरका प्रगतिवाद अथवा प्रयोगवाद उनकी नयी कविताके लिए तैयारी-सा जान पड़ता है। अपने काव्यकी रचनात्मक प्रक्रियाके सम्बन्धमें उनका यह वक्तव्य महत्त्वपूर्ण है : "जो कुछ देखा और पाया, उसीकी कविता—बस, इसी खयालके सुर, ताल और रंग और नक़्श और लहर मेरी कविता है। वह फिर जैसी भी है। मैं अपने आपसे बातें करता हूँ। हम सब एक-न-एक क्षणमें करते हैं, बेमानी बातें—खामखयालियाँ—वे

सिर-फेरके क़ुलावे :—उनका कोई छन्द होता है ? उस सबमें कहाँ ठहराव और फैलाव और थाप और गिराव होता है; कहाँ स्टेंज़ा बनता और कहाँ पैरा ?·····हाँ, छन्द होता है, और ठहराव भी; और ताल और सुरकी चोटें और थाप और गिराव भी होता है, और स्टैंज़ा बनते और पैरे भी शुरू होते हैं—लम्बे-लम्बे और छोटे-छोटे विरामोंपर मौज़ूँ छन्दोंमें; जिनको हमारे दिलकी लहर ही नाप सकती है और नापती ही है, (फिर आप क़बूलें या न क़बूलें)।" (अप्रकाशित कविता-संग्रह 'उदिता'की भूमिकासे) शमशेर-का यह विश्लेषण प्रगतिवादकी अपेक्षा प्रयोगवाद अथवा नयी कविताकी मौलिक प्रकृतिके अधिक निकट है।

'तार सप्तक'में संकलित गिरिजाकुमार माथुर (१९१९ ई०) रस, रंग तथा रोमांसके कवि हैं। टूटी चूड़ीका टुकड़ा तथा केसर रंग रँगे हुए बन उनकी आसक्तिके प्रधान केन्द्र हैं। उनकी कविताएँ सामान्यतः आकर्षक होती हुई भी सर्वत्र गहरे भावबोधसे उद्भूत नहीं जान पड़तीं। माथुरके कृतित्वमें भावोंका गद्दरपन विशेष रूपसे आस्वाद्य है। और यह भावात्मक गद्दरपन प्रकृति-चित्रोंसे अधिक यौन-आकर्षणपर आधारित है। पर इन वैयक्तिक चित्रोंको उन्होंने कहीं इस प्रकार प्रस्तुत नहीं किया कि वे 'वल्गर' लगने लगें। गद्दरपनके प्रभावको बढ़ानेके लिए उन्होंने लोक-संस्कृतिके बहुतसे उपकरणोंका प्रतीकों-उपमानों अथवा अभिप्रायोंकी भाँति प्रयोग किया है। किन्तु इस प्रकृतिके साथ उनका मौलिक मैनहटनी दृष्टिकोण कभी-कभी मेल नहीं खाता। वस्तुतः माथुर छायावादके अधिक विकसित, परिष्कृत तथा आधुनिक रूपके कवि हैं। लोकसम्पृक्ति उनके काव्यकी विशेषता कम रही। प्रयोगवादके वे साथ थे, परन्तु नयी कविता उनसे शायद कुछ आगे बढ़ गई है। यद्यपि कविकी प्रयोग-साहसिकताने इस व्यवधानको बादमें दूर कर दिया है। प्रयोगवादके क्षेत्रमें माथुरने टेकनीक-पर विशेष बल दिया था, और शिल्पके कुछ नवीन रूप उन्होंने प्रस्तुत किये थे। वर्ण-योजनाको लेकर उनके प्रयोग काफ़ी सफल हुए हैं। पर यह

स्मरणीय है कि उनका शिल्प प्रायः सर्वत्र उनकी मौलिक रोमाण्टिक प्रवृत्तिके अनुरूप है। 'तारसप्तक'में संकलित माथुरकी कविताएँ उनके सफल शिल्प-प्रयोगोंकी सूचक हैं। पर जहाँ उन्होंने यत्नपूर्वक नयी कविता लिखनी चाही है, वहाँ वे मात्र एक रूखी-सूखी चमत्कारिक उक्तिकी सृष्टि करके रह गये हैं। उनकी दोनों प्रकारकी रचनाओंके उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं—

१. उन्हीं रेडियमके अंकोंकी लघु छायापर
दो छाँहोंका वह चुपचाप मिलन था
उसी रेडियमकी हल्की छायामें
चुपकेका वह रुका हुआ चुम्बन अंकित था
कमरेकी सारी छाँहोंके हल्के स्वर-सा
पड़ती थीं लो एक-दूसरेसे मिल-गुंथकर
सूनी आधी रात।

[रेडियमकी छाया]

२. दो व्यक्ति कमरेमें
कमरेसे छोटे
कमरा है घरमें
घर है मुहल्लेमें
मुहल्ला नगरमें
नगर है, प्रदेशमें
प्रदेश कई, देशमें
देश कई पृथ्वीपर
अनगिन नक्षत्रोंमें
पृथ्वी एक छोटी
करोड़ोंमें एक ही
सबको समेटे, है

परिधि नभ गंगाकी
लाखों ब्रह्माण्डोंमें
अपना एक ब्रह्माण्ड
हर ब्रह्माण्डमें
कितनी ही पृथ्वियाँ
कितनी ही भूमियाँ
कितनी ही सृष्टियाँ
यह है अनुपात
आदमीका विराटसे
इसपर भी आदमी
ईर्ष्या, अहं, स्वार्थ
घृणा, अविश्वास-लीन
अपनेको दूसरेका स्वामी समझता है
देशोंकी कौन कहे
साथ रह न सकता है।

[आदमीका अनुपात]

पर नयी कविताके क्षेत्रमें इन प्रारम्भिक प्रयोगोंके बाद माथुरने अपनी दिशा प्राप्त कर ली है। 'धूपके धान' (१९५५) की कुछ रचनाएँ शिल्प तथा संवेदनाकी दृष्टिसे विशेष महत्त्वकी हैं। वस्तुतः प्रारम्भसे ही शिल्पके प्रयोगोंमें कविकी प्रतिभा प्रभावोत्पादक रूपसे व्यक्त हुई है।

नयी कविताके प्रमुख कवियोंमें धर्मवीर भारती (१९२६ ई०) का काव्य व्यक्तित्व असाधारण है। छायावाद, अँग्रेजी रोमाण्टिसिज़्म, उर्दूकी गज़ल शैली, प्रयोगवाद तथा नयी कविता—इन सभीकी भाव-भूमियाँ उनके कृतित्वमें मिलती हैं। जो नयी कविताएँ उन्होंने लिखी हैं, उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है, पर उनकी सफलता असंदिग्ध है। भारतीके पक्षमें सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने नयी कविताके खोलोंका कभी किसी स्तरपर

प्रयोग नहीं किया। उनका दृश्य-काव्य 'अंधा युग' नयी कविताके प्रौढ़तम शक्ति-संवेगका प्रतीक है (भारतीकी इस विशिष्ट कृतिका विवेचन एक स्वतन्त्र अध्यायके अन्तर्गत अलगसे किया जायेगा), पर उनकी स्फुट कविताओंमें नयी कविताके शुद्ध उदाहरण कम हैं। सामान्यतः उनकी कविताओंमें रोमाण्टिसिज़्मका आकर्षण तथा उर्दू गज़लका 'अवैण्डन' मिश्रित रहता है, और ये दोनों ही काव्य-तत्त्व नयी कविताकी विशेषताएँ नहीं हैं। 'अन्धायुग' भारतीकी सामान्य काव्य-पद्धतिका अपवाद है, परन्तु अत्यन्त ही सशक्त तथा सक्षम अपवाद है।

प्रकृति-चित्रों ('नवम्बरकी दोपहर', 'अँधेरेका फूल', 'साँझके बादल') तथा कुछ शुद्ध रोमाण्टिक कविताओं ('गुनाहका गीत', 'शाम-दो मनःस्थितियाँ', गज़लें) को छोड़कर भारतीके काव्यमें सर्वत्र एक व्यापक मानवतावादी भाव-भूमि दिखाई देती है। कविका यह मानवतावाद बहुतसे स्थलोंपर रोमाण्टिसिज़्म, भावुकतावाद अथवा रहस्यवादमें अन्तर्भुक्त हो गया है। पर जब यह मानवतावाद इण्टलैक्चुअल स्तरसे सम्पृक्त हो जाता है तभी भारतीकी कविता नयी कविताका सहज स्वरूप ग्रहण कर लेती है। अधिकांश। कविताओंमें भावुकताका आग्रह तथा समस्याके प्रति इण्टलैक्चुअल अप्रोच, दोनों ही एक साथ दिखाई देते हैं। इस प्रकारकी कविताएँ उनकी मौलिक काव्य-प्रवृत्तिकी वास्तविक प्रतिनिधि हैं। 'ये फूल, मोमबत्तियाँ और टूटे सपने' शीर्षक कविता इस वर्गकी रचनाओंका अच्छा उदाहरण है—

यह फूल, मोमबत्तियाँ और टूटे सपने
ये पागल क्षण,
यह काम-काज दफ्तर-फ़ाइल, उचटा-सा जी
भत्ता वेतन !
ये सब सच हैं !

इनमेंसे रत्ती भर न किसीसे कोई कम,
अन्धी गलियोंमें पथभ्रष्टोंके ग़लत क़दम
या चन्दाकी छायामें भर-भर आनेवाली आँखें नम
बच्चोंकी-सी दूधिया हँसी या मनकी लहरोंपर
उतराते हुए क़फ़न
ये सब सच हैं !
जीवन है कुछ इतना विराट्, इतना व्यापक
उसमें है सबके लिए जगह, सबका महत्त्व
ओ मेज़ोंकी कोरोंपर माथा रख-रखकर रोनेवाले
यह दर्द तुम्हारा नहीं सिर्फ़, यह सबका है।
सबने पाया है प्यार, सभीने खोया है
सबका जीवन है भार, और सब जीते हैं,
बेचैन न हो—
यह दर्द अभी कुछ गहरे और उतरता है,
फिर एक ज्योति मिल जाती है,
जिसके मंजुल प्रकाशमें सबके अर्थ नये खुलने लगते।
....

हर एक दर्दको नये अर्थ तक जाने दो !

भारतीकी इस कवितामें वेदनाकी छायावादी परिणति नहीं है। ये पंक्तियाँ करुणाका उद्रेक करती हैं, दयाका नहीं। इसीलिए इनका दृष्टि-कोण स्वस्थ तथा रचनात्मक है। सम्पूर्ण कविताकी भाव-भूमि बौद्धिकसे अधिक रोमांटिक है, यद्यपि रोमांटिसिज़्मका यह मिश्रित रूप सर्वथा नया तथा अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट है। मानवतावादी अभिव्यक्तिके लिए यह दृष्टि संभवतः और भी अधिक संगत तथा उपयुक्त हो सकती है। पर नयी कविताके सन्दर्भमें चन्दाकी छायामें भर-भर आनेवाली नम आँखें, बच्चोंकी-सी दूधिया हँसी तथा मनकी लहरोंपर उतराते हुए क़फ़न बहुत

'सच' नहीं जान पड़ते, या कमसे कम उतने सच तो नहीं लगते, जितनी कि छायावादी 'विचारोंमें बच्चोंकी साँस' (सुमित्रानन्दन पन्त) सच जान पड़ती है।

स्थूलतः भारतीके काव्यका चिन्तन नयी कविताके अधिक निकट है, पर उनका बिंब-विधान, प्रतीक तथा अभिप्राय रोमाण्टिक हैं। कविके सामान्य भावात्मक स्तर तथा शिल्पके बीचका यह व्यवधान सचमुच बड़ा विचित्र है। उसकी अधिकांश कविता 'गुनाहोंका देवता' तथा 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' (भारतीके दो उपन्यास)के बीचकी मनःस्थिति जान पड़ती है। कथा साहित्यके क्षेत्रमें भारतीने अपनी रोमाण्टिसिज़्मपर बहुत शीघ्र विजय प्राप्त कर ली, परन्तु कवितामें उन्होंने मध्यम मार्गका अधिकतर अनुसरण किया है, जो संभवतः उनकी मौलिक काव्य-प्रकृतिके अनुकूल है। 'दूसरा सप्तक'में भारतीका वक्तव्य तथा उनकी कविताएँ (जिनका संकलन, भारतीका, सही प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता) रोमाण्टिसिज़्मसे बहुत आगे नहीं ले जातीं। जहाँ-जहाँ भारतीका शिल्प उनकी अनुभूतिके अनुरूप है, उससे एकदम संपृक्त है, वहीं उन्होंने नयी कविताके सफलतम प्रयोग प्रस्तुत किये हैं। 'टूटा पहिया', जो कविके 'मैग्नम ओपस' 'अन्धा युग'का मूल सूत्र-सा उपस्थित करती है, आधुनिक चिन्तन तथा शिल्प-विधानकी उपलब्धि है—

मैं रथका टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत !
क्या जाने कब इस
दुरूह चक्रव्यूहमें अक्षौहिणी सेनाओंको
अकेले चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय !
अपने पक्षको असत्य जानकर भी
बड़े-बड़े महारथी

निहत्थी अकेली आवाज़को अपने ब्रह्मास्त्रोंसे कुचल देना चाहें
तब मैं रथका टूटा हुआ पहिया
उसके हाथोंमें
ब्रह्मास्त्रोंसे लोहा ले सकता हूँ !
मैं रथका टूटा हुआ पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्योंकि इतिहासोंकी सामूहिक गति सहसा झूठी पड़ जानेपर क्या जाने
सच्चाई टूटे हुए पहियोंका आश्रय ले !
मैं रथका टूटा हुआ पहिया हूँ !

नयी कविता वस्तुतः किसी भी टूटे हुए पहियेको फेंकनेके पक्षमें नहीं है। जीवनकी समस्त आकृतियाँ-विकृतियाँ उसके संदर्भमें महत्त्वपूर्ण हैं। नयी कविता यथार्थवादी नहीं है, वरन् यथार्थसे संपृक्त है। नयी कविताके सन्दर्भमें यथार्थका कोई 'वाद' नहीं हो सकता। व्यंगपर आधारित भारतीकी 'प्रमथ्यु गाथा' अथवा 'तीन पूजा-गीत' जैसी कविताओंमें इस यथार्थ-संपृक्तिका अच्छा उदाहरण मिलता है। ऐसी कविताएँ नयी कविताके विकसित होते हुए स्वरूपको समृद्ध बनाती हैं।

बौद्धिक स्तरपर बहु-पठित होनेके कारण नयी कविताकी मौलिक प्रकृति-को भारतीने भली-भाँति पहिचाना है। यह दूसरी बात है कि उनके कविकी रचनात्मक प्रक्रिया तथा उनके चिन्तनकी विचारगत उपलब्धि सदैव एक-दूसरेके अनुरूप न रही हों। नयी कविताका प्रतीक-चित्र हमें उनकी 'गैरिक-वसना' शीर्षक कवितामें मिलता है—

मेरी वाणी
गैरिक वसना
भूल गई गोरे अंगोंको
फूलोंके वसनोंमें कसना

गैरिक वसना
मेरी वाणी

अब विरागिनी
मेरा निज दुख, मेरा निज सुख
दोनोंसे तटस्थ रागिनी
अब विरागिनी
मेरी वाणी

चन्दन शीतल
पीड़ासे परिशोधित स्वरमें
उभरा एक नवीन धरातल
चन्दन शीतल
मेरी वाणी

भटके हुए व्यक्तिका संशय
इतिहासोंका अन्धा निश्चय
ये दोनों पा जिसमें आश्रय
बन जायेंगे सार्थक समतल
ऐसे किसी अनागत पथका
पावन माध्यम-भर है मेरी
आकुल प्रतिभा, अर्पित रसना

गैरिक वसना

मेरी वाणी
जल-सी निर्मल
मणि-सी उज्ज्वल
नवल स्नात
हिम धवल

ऋजु तरल

मेरी वाणी....

हिन्दी कविताका यह मानो सन्यास आश्रममें प्रवेश है, जहाँ निजी तथा व्यापकका कोई भेद नहीं रह जाता। भारतीने अपने 'अन्धा युग' की संक्षिप्त भूमिकामें इस अभिन्नत्वपर विशेष बल दिया है। "एक धरातल ऐसा भी होता है, जहाँ 'निजी' और 'व्यापक' का बाह्य अन्तर मिट जाता है। वे भिन्न नहीं रहते। 'कहियत भिन्न न भिन्न'।"

नयी कविता वर्गके एक और महत्त्वपूर्ण सदस्य हैं जगदीश गुप्त (१९२४ ई०)। पर नयी कविताके सन्दर्भमें यह महत्त्व उनके काव्यसे कहीं अधिक उनके कृतित्वको लेकर है। नयी कविताके मौलिक प्रतिमानोंके आधारपर उनकी काव्य-पद्धति विवादास्पद रही है। और यह विवाद सकारण है। 'नयी कविता' के सम्पादक होनेके कारण उनकी स्थिति कुछ आधिकारिक-सी लगती है, पर उनकी मौलिक 'काव्य-प्रवृत्ति उनकी इस स्थितिके साथ बहुत मेल नहीं खाती।

जगदीशकी नयी कविताका ढाँचा विरोधी आधारोंपर अवस्थित है। उक्ति चामत्कारिकता तथा शिल्प परिपूर्णतासे वे बहुत दूर तक प्रभावित हैं। ब्रजभाषाका सफल कवि होना उनकी नयी कविताके लिए हानिप्रद सिद्ध हुआ है, यह उनके संकलन 'नावके पाँव' (१९५५) से सिद्ध होता है। नयी कवितासे कुछ प्रतीक तथा भावचित्र उन्होंने अवश्य ग्रहण किये हैं। कहीं-कहीं बौद्धिकताके विशेष आग्रहने उन्हें नयी कविताकी मनःस्थिति भी दी है। पर सामान्यतः वे जितने सफल कवि हैं, उतने सफल नये कवि नहीं। 'नावके पाँव' की प्रथम कविता है—

जो कुछ प्राणोंमें है,

प्यार नहीं

पीर नहीं,

प्यास नहीं—

जो कुछ आँखोंमें है
स्वप्न नहीं
अश्रु नहीं
हास नहीं—

जो कुछ अंगोंमें है,
रूप नहीं
रक्त नहीं
माँस नहीं—

जो कुछ शब्दोंमें है,
अर्थ नहीं,
नाद नहीं,
श्वास नहीं

उसपर आस्था मेरी।
उसपर श्रद्धा मेरी।
उसपर पूजा मेरी :

अपने आपमें उत्कृष्ट कविता होनेपर भी यह रचना नयी कविताकी संवेदनासे उद्‌भूत नहीं लगती। 'नावके पाँव' में संकलित 'अव्यक्त चुम्बन', 'टूटा शीशा', 'अतृप्ति', 'पानी गहरा है' जैसी अधिकांश रचनाएँ, यद्यपि मार्मिक हैं पर प्रायः उक्ति चमत्कार तथा यान्त्रिक लयात्मकताके संयोगसे बनी हैं। 'आलोचना' (सम्पादक-धर्मवीर भारती, रघुवंश, ब्रजेश्वर वर्मा, विजयदेवनारायण साही)में प्रकाशित 'नावके पाँव' की समीक्षाका शीर्षक 'रीति, गीति तथा नयी कविता' कविकी इन्हीं मौलिक प्रवृत्तियोंका द्योतक है। 'मध्यस्थ' जैसी नयी कविता जगदीशजीके कृतित्वमें कम मिलती है।

पर 'नाथके पाँव' के बादकी कविताएँ नयी कविताके अधिक निकट हैं। 'शब्द दंश' इस वर्गका सशक्त उदाहरण है।

कविताका अन्तिम अंश है—

विश्व-संस्कृतिका समावृत खोखलापन
'शब्द है फुंकार'
कहकर डस गया
आतंक अभिशापित मनुजको
गारुड़ी ! ओ गारुड़ी !
तुम हृदय-तलके क्षीर-सागरमें
अभीतक सो रहे हो !

इसके अतिरिक्त प्रकृति-चित्रोंको चित्रकारकी शैलीमें प्रस्तुत करना जगदीशजीकी अपनी विशेषता है। आधुनिक कलाके नवीनतम आयामोंसे उनका परिचय कविताके प्रति उनकी एप्रोचको अद्यतन बनाये रखता है।

प्रयोगवादी नये कवियोंमें रघुवीरसहाय (१९२९ ई०) का काव्य-व्यक्तित्व काफ़ी विकसित होता रहा है। रघुवीरसहाय 'दूसरा सप्तक' के कवि हैं। मध्यमवर्गीय जीवनके विद्रूपों तथा कुरूपताओंका चित्रण उन्हें विशेष प्रिय है। पर यह कविकी नवीनतम विकसित प्रवृत्ति है। प्रयोग-वादके तत्त्वावधानमें लिखित उनकी कुछ महत्त्वपूर्ण कविताएँ बाल्यावस्था जैसे आह्लादसे प्रेरित थीं।

आज फिर शुरू हुआ जीवन।
आज मैंने एक छोटी-सी सरल-सी कविता पढ़ी :
आज मैंने सूरजको डूबते देर तक देखा।
आज मैंने शीतल जलसे जी भर स्नान किया।

आज एक छोटी-सी बच्ची आयी
किलक मेरे कंधे चढ़ी,
आज मैंने आदिसे अंत तक
एक पूरा गान किया,
आज जीवन फिर शुरू हुआ।

इस प्रकारकी कविताएँ रघुवीरसहाय अधिक नहीं लिख सके। जीवन-की ये मार्मिक तथा सरल अनुभूतियाँ तीखेपनमें बदल गईं। अब दुनिया उनके लिए 'फुफुँदियाई' तथा 'वजवजाई' चीज़ हो गई है। पर संवेदना-त्मक शक्ति दोनों ही वर्गोंकी कविताओंमें समान रूपसे मिलती है। उद्धृत कवितामें परिलक्षित कविकी दृष्टि अब उसकी कहानियोंमें अधिक अभि-व्यक्ति पाती है (देखें—'सेव', लड़के 'खेल' आदि)।

रघुवीरसहायकी एक बड़ी विशेषता है उनकी काव्य-भाषाकी सिद्धि। शब्दोंके सन्दर्भ, उनकी ध्वनियाँ तथा भाव-चित्र कविने अच्छी तरहसे समझे हैं। विद्रूपोंके चित्रणमें उनकी भाषाकी 'वल्गैरिटी' बहुत स्वाभाविक लगती है, और जो नयी कविताकी विशिष्ट उपलब्धि है। उनकी 'प्रख्यात' कविता 'हमारी हिन्दी' इस प्रसंगमें विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। भाषाके विभिन्न स्तरोंकी सम्भावनाओं तथा प्रयोगोंके क्षेत्रमें रघुवीरसहायने एकदम अछूती दिशाएँ खोली हैं। शब्द-प्रयोगोंके सम्बन्धमें उन्होंने सामान्यतः प्रचलित वर्जनाओंको एकदम अस्वीकार कर दिया है।

नयी कवितामें सामान्य जीवनके असामान्य परिप्रेक्ष्यको उभारनेकी अद्भुत शक्ति रही है। यहाँ असामान्यता न तो वस्तु स्थितिकी है, और न उसके पीछे कुछ चमत्कार उत्पन्न करनेकी प्रेरणा ही है। नयी कवितामें इतनी सामान्य मनःस्थितियोंको चित्रित किया जाता है कि वे असामान्य-सी लगती हैं। इस प्रकार नयी कविताकी यह विशिष्टता परिप्रेक्ष्य-जन्य है। रघुवीरसहायकी 'हमारी हिन्दी'में सामान्यतम भारतीय

मध्यम वर्गकी स्त्रीका जो चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसके असामान्य लगनेका यही कारण है। कविकी नवीनतम रचनाओंमें यह चौंका देनेवाली मनोवृत्ति विशेष रूपसे मिलती है।

'दूसरा सप्तक'के एक अन्य कवि भवानीप्रसाद मिश्र (१९१४ ई०) नयी कविताके भी उतने ही निकट हैं जितने कि प्रयोगवादके थे। 'गीत फ़रोश'के रचयिताके रूपमें इनकी व्यापक ख्याति है। वास्तविकता तो यह है कि भवानी प्रारम्भसे ही नयी कविताके कवि हैं। नयी कविताका भावी रूप 'दूसरा सप्तक'में संकलित इनकी कविताओंमें दिखाई देता है। 'गीत-फ़रोश' (अब कविके प्रथम संकलनका शीर्षक) कविकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना होनेके साथ-साथ उसकी मौलिक मनोवृत्तिकी अनुसूचक भी है। और 'गीतफ़रोश'से लेकर 'शब्दोंके महल' तक कविकी समान भाव-प्रौढ़ता देखी जा सकती है। वस्तुतः ये दोनों कविताएँ एक-दूसरेकी पूरक हैं, युग्म हैं। एकमें तीखा व्यंग और विनशता है, दूसरीमें आत्मविश्वास है।

जी हाँ हुजूर, मैं गीत बेचता हूँ।
मैं तरह-तरहके
गीत बेचता हूँ
मैं सभी किसिमके गीत
बेचता हूँ।

जी माल देखिए दाम बताऊँगा,
बेकाम नहीं है, काम बताऊँगा;
कुछ गीत लिखे हैं मस्तीमें मैंने
कुछ गीत लिखे हैं पस्तीमें मैंने;
यह गीत सख़्त सरदर्द भुलायेगा;
यह गीत पियाको पास बुलायेगा।

जी, पहले कुछ दिन शर्म लगी मुझको
पर पीछे-पीछे अक्ल जगी मुझको;
जी, लोगोंने तो बेच दिये ईमान।
जी आप न हों सुनकर ज्यादा हैरान।
मैं सोच-समझकर आखिर
अपने गीत बेचता हूँ;
जी हाँ, हुज़ूर मैं गीत बेचता हूँ।

[गीतफ़रोश]

शब्दोंके महल, जब पहले पहल
मैंने बनाये, तब वे मेरे बहुत काम आये।
मैंने उनका बड़ा सिंगार किया, और कभी-कभी तो
अपनेसे भी ज्यादा उन्हें प्यार किया।
पहले पहल, शब्दोंके महल, मेरे काम भी बहुत आयें
जब कभी सख्त पड़ी धूप, या हवा बही तेज या
नाराज़ हो गया अँगरेज़, मैंने उसकी ओट ली।
और सख़्त धूप, तेज़ हवा, नाराज़ अँगरेज़ पै चोट की।

[शब्दोंके महल]

अपनी बात कहनेमें अनौपचारिकता भवानीका विशिष्ट गुण है। यह अनौपचारिकता कवि तथा पाठक अथवा श्रोताके बीचके व्यवधानको कम करती है, जो नयी कविताका एक प्रधान लक्षण है। आभिजात्य और औपचारिकता दोनोंसे ही नयी कविताका मौलिक विरोध है। आभिजात्यकी भावनाके ऊपर गहरा व्यंग भवानी मिश्रकी 'जाहिल वाने' शीषक कवितामें मिलता है—

मैं असभ्य हूँ, क्योंकि खुले-नंगे पांवों चलता हूं,
मैं असभ्य हूँ, क्योंकि धूलकी गोदीमें पलता हूँ।

मैं असभ्य हूँ, क्योंकि चीरकर धरती धान उगाता,
मैं असभ्य हूँ, क्योंकि ढोलपर बहुत जोरसे गाता।
मैं असभ्य हूँ, क्योंकि कातकर स्वयं बनाता कपड़े,
मैं असभ्य हूँ, क्योंकि नहीं हैं पैने मेरे जबड़े।

आप सभ्य हैं क्योंकि हवामें उड़ जाते हैं ऊपर,
आप सभ्य हैं क्योंकि आग बरसा देते हैं भूपर।
आप सभ्य हैं क्योंकि धानसे भरी आपकी कोठी,
आप सभ्य हैं क्योंकि जोरसे पढ़ पाते हैं पोथी।
आप सभ्य हैं क्योंकि आपके कपड़े महज बने हैं,
आप सभ्य हैं क्योंकि आपके जबड़े खून सने हैं।

आप बड़े चिंतित हैं मेरे पिछड़ेपनके मारे,
आप चाहते हैं कि सीखता यह भी ढंग हमारे।
मैं उतारना नहीं चाहता, जाहिल अपने बाने,
धोती-कुरता बहुत जोरसे लिपटाये हूँ याने।

भवानी मिश्रकी प्रतिनिधि कविताओंमें एक सादगी सर्वत्र है, जो कविकी ध्वन्यात्मक योजनाके फलस्वरूप ओजस्वितामें परिणत हो जाती है। नयी कविताके उत्कृष्टतम ध्वनि-क्रम हमें भवानीकी रचनाओंमें मिलते हैं। तीव्र लय उसके काव्यकी अनिवार्य विशेषता है, जिसने उनके कृतित्वको पौरुषपूर्ण बना दिया है। कविकी मुखर सामाजिक चेतनाके ही अनुरूप उसका यह ध्वनि-शिल्प है।

नयी कविताके निजी कवियोंमें कुँवरनारायणका स्थान काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। 'चक्रव्यूह' शीर्षक उनका संकलन नयी कविताके एक विशिष्ट स्तरका द्योतक है। वस्तुतः कुँवरनारायण नयी कविताकी नयी पीढ़ीके अग्रणी हैं। नयी कविताकी भावी संभावनाएँ इस पीढ़ीके ही हाथोंमें सुरक्षित

हैं, क्योंकि वास्तविक नये कवि यही हैं। कुँवरनारायणके अतिरिक्त इस सन्दर्भमें दुष्यन्तकुमार, मनोहरश्याम जोशी, श्रीराम वर्मा, नित्यानन्द तिवारी, श्याममोहन श्रीवास्तव, श्रीकान्त वर्मा तथा शिवकुटीलालके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

कुँवरनारायण प्रधानतः वैयक्तिक भावचित्रों (private imagery) के कवि हैं। मनके अन्तर्विरोधों तथा उलझी और अस्पष्ट संवेदनाओं-को उन्होंने अपने प्रतीकों तथा भाव-चित्रोंके माध्यमसे व्यक्त किया है। बहुत दिनोंसे लिखते रहनेपर भी उनकी काव्य-प्रतिभा एक निश्चित प्रवृत्तिकी सूचक रही है, और यह प्रवृत्ति है साहित्यिक आभिजात्यकी। कविका बहुपठित व्यक्तित्व उसकी समस्त रचनाओंमें स्पष्ट दिखाई देता है। इस अध्ययनशीलताका कोई विरुद्ध प्रभाव नहीं है। वरन् यह सराह-नीय है कि इस व्यापक अध्ययनके बावजूद कविका व्यक्तित्व उसका अपना है।

'चक्रव्यूह'के कविकी संवेदना अत्यन्त कोमल है। इसे दृष्टिसे उसके संकलनका शीर्षक नितान्त सार्थक जान पड़ता है। सुभद्रा-पुत्रके चक्रव्यूहसे आजके कविका चक्रव्यूह कहीं अधिक मर्मघाती है। उसमें शरीरकी अपेक्षा मन अधिक क्षत होता है।

आमाशय,
यौनाशय,
गर्भाशय...

जिसकी जिन्दगीका यही आशय,
यही इतना भोग्य...
कितना सुखी है वह, भाग्य उसका
ईर्ष्याके योग्य !

हाय पर मेरे कलपते प्राण,
तुमको मिला कैसी चेतनाका विषम जीवन-मान
जिसकी इंद्रियोंसे परे जाग्रत हैं अनेकों भूख !

['आशय' : कुंवरनारायण]

इन्द्रियसे परेकी 'अनेकों भूख'का खतरा आजके स्वचेतन कविके लिए महाभारतकालीन चक्रव्यूहकी अपेक्षा अधिक है। इन भूखोंका ज्ञान कविको स्वतः अपने व्यक्तित्वके सतत अन्वेषण तथा पुनरन्वेषणके कारण सम्भव हो सका है। पर अभी कविकी यह अनुभूति अवश है। उसमें पककर एक समग्र जीवन-दृष्टि तक पहुँचनेकी स्थिति यह नहीं है। पर इस जीवन-दृष्टिकी उपलब्धिकी सम्भावना तथा चेष्टा कुँवरनारायणमें बराबर मिलती है—

तारोंकी अंध गलियोंमें
गूँजता हुआ उद्दण्ड उपहास···
वह मेरा प्रश्न है :
विशाल आडंबर,
अपनी चुभती दृष्टिकी गर्म खोजमें मैंन
प्रश्नाहत जिस विराट हिम-पुरुषको
गलते हुए देखा···
क्या वह तेरा उत्तर था ?

नयी कवितामें शुद्ध प्रकृति-चित्रोंका अंकन अपेक्षाकृत कठिन है। आधुनिक कविताका प्रकृति-चित्रण प्रायः सदैव रोमांटिसिज्ममें अन्तर्भुक्त हो जाता है। और नयी कविता तथा रोमांटिसिज्मकी संगति नहीं बैठ पाती, क्योंकि नयी कविताकी आधारभूत दृष्टि बौद्धिक है। इसीलिए धर्मवीर भारती अथवा जगदीश गुप्तके अत्यन्त सफल तथा मार्मिक प्रकृति-चित्र नयी कविताके परिवेशमें कम आते हैं। पर कुँवरनारायणके नये बिम्ब-

विधान तथा प्रकृतिके प्रति उनके अपेक्षाकृत तटस्थ दृष्टिकोणके फलस्वरूप उनका प्रकृति-चित्रण नयी कविताकी मौलिक प्रकृतिके साथ सामंजस्य रखता है। प्राकृतिक दृश्योंमें आधुनिक कवि न तो सहभोगी है और न उनका वर्णन वह एक चमत्कारिक उक्तिके रूपमें करता है। रोमांटिक विचार-धारा जैसी 'सिग्निफ़िकेंस' भी वह प्रकृतिको नहीं देता और न रीतिकालीन प्रवृत्तिके अनुसार उसे अपनी भावनाओंको व्यक्त करनेका उपादान ही बनाता है। प्रकृतिका सम्भवतः उसके लिए उतना ही महत्त्व है जितना कि 'सभ्यताकी परिष्कृति' का है। उसकी दृष्टिमें ये एक दूसरेके अनिवार्य पूरक हैं—

दूरका अविरोध फैला क्षेत्र; बेतरतीब
वृक्षोंकी क्षितिजकी मेंड़पर कुछ भीड़
चुहलते पक्षियोंकी तोतली कविता
पवनकी लोरियोंमें ऊँघती सरिता।
बरसती दृष्टिके उस छोर तक अविराम
जाड़ोंकी उजागर गुनगुनी-सी घाम····
रुको····प्रिय···
विश्रांतिकी इस अरौंदी छाया तले
भूल जायें कुछ क्षणोंको हम हृदयके भार,
सभ्यताकी परिष्कृतिसे दूर
आओ, हम बनें इस शांतिके दो नये साझीदार।

नयी कविताकी नयी पीढ़ीके दूसरे सफल कवि दुष्यन्तकुमारका इतिहास विचित्र रहा है। अपने प्रारम्भिक कालमें उन्होंने छायावादी प्रतिध्वनिके गीत लिखे थे, ऐसे गीत जिनमें अलग-अलग पंक्तियोंका महत्त्व होता था, परन्तु जिनका मूल भाव कुछ नहीं था। बच्चनके बाद ऐसे कवि-सम्मेलनी गायक-गीतकारोंकी संख्या बहुत अधिक हो गई थी, और तब दुष्यन्तकुमार

(परदेशी) की महत्त्वाकांक्षा शायद इस सीमाके आगे बढ़नेकी बिलकुल न थी। पर नयी कविताकी शक्तिने दुष्यन्तकुमारको कहीं गहरे छुआ और उनके कवि-मनमें मौलिक परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया। वास्तविकता तो यह है कि दुष्यन्तके गीत तथा उनकी नयी कविताके रचयिताओंको एक ही व्यक्ति माननेमें कुछ कठिनाई होती है। अपने अतीतसे अपनेको एकदम अलग कर लेनेकी यह शक्ति दुष्यन्तकुमारमें अजब-सी दिखाई देती है।

दुष्यन्तकुमारका विषय-चयन प्रायः उतना ही व्यापक है जितना स्वतः नयी कविताका क्षेत्र। अपनी गहरी संवेदन-शक्तिके कारण कविकी दृष्टि तल-स्पर्शिनी है। तुच्छ घटनाओं तथा वस्तुओंकी भावात्मक शक्ति तथा प्रभविष्णुताको दुष्यन्तने भली-भाँति पहिचाना है। वर्तमानसे असन्तोष तथा भविष्यमें आस्था नयी कविताके मूल स्वरोंमें-से एक है। एक नगण्य घटना-के माध्यमसे कविने इस अनुभूतिको आत्मसात् किया है। 'सूर्यका स्वागत' (कविके प्रथम संकलनका शीर्षक भी) नयी पीढ़ीकी सक्षमताका महत्त्वपूर्ण उदाहरण है—

दीवालें काईसे चिकनी हैं काली हैं
धूपसे चढ़ा नहीं जाता है
ओ भाई सूरज मैं क्या करूँ ?
मेरा नसीबा ही ऐसा है
खुली हुई खिड़की देखकर तुम तो चले आये
पर मैं अँधेरेका आदी
अकर्मण्य...
निराश...
तुम्हारे आनेका खो चुका था विश्वास।

पर तुम आये हो
स्वागत है

स्वागत घरकी इन काली दीवारोंपर !
और कहाँ ?
हाँ—मेरे बच्चेने खेल-खेलमें ही
यहाँ काई खुरच दी थी—
आओ यहाँ बैठो···
और मुझे मेरे अभद्र सत्कारके लिए क्षमा करो !
देखो मेरा बच्चा
तुम्हारा स्वागत करना सीख रहा है।

आस्थाका यह स्वर प्रचारात्मक नहीं है, एक अनुभूत संवेदना है। और यह नयी कविताकी अपनी विशेषता है। उसमें आस्था सहज है, आस्था तथा भविष्यका वाद नहीं है, ठीक उसी प्रकारसे जैसे यथार्थसे पूरी-पूरी संपृक्ति होते हुए भी उसमें यथार्थका कोई वाद नहीं है। कलात्मक तथा साहित्यिक ईमानदारीके स्तरपर यथार्थका कोई वाद हो भी नहीं सकता !

नयी कविताके तत्त्वावधानमें रोमांस तथा प्रेमके सर्वथा नवीन आयाम विकसित हुए हैं। प्रणयकी एकांतिक भावना तथा अतिरिक्त सामाजिक दायित्वके बीचका आधुनिक संघर्ष नये कवियोंके व्यक्तित्वमें बड़े तीखेपनके साथ प्रतिफलित हुआ है। फ़ैज़की नज़्म 'मुझसे पहले-सी मोहब्बत मेरे महबूब न माँग' नये मानव मूल्योंकी अभिव्यक्ति है। दुष्यन्तकुमारकी 'परम्परा' शीर्षक कवितामें इस नवीन स्थितिको स्वीकार तो किया गया है, पर एक अवश दर्दके साथ—

कब तक जियेगा
काव्य बनकर तुम्हारा दर्द
मेरे पास ?

कब तक रहेगी
प्रश्न बनकर तुम्हारी याद
मेरे साथ ?
कब तक चलेगा खेल
रूठना, दुग्रा देना
फिर हो जाना उदास ?

आँधी पकड़ मेरा हाथ
लोगोंके बीच लिये जाती है,
दर्द बह जायेगा ।
भौतिक समस्याएँ
उत्तर बन आती हैं
मेरी तुम्हारी समस्याका
प्रश्न रह जायगा !

एक मर्यादाका हाथ बढ़ा आता है
मुझे गुद्‌गुदाता है
मन उदास होने न पायगा ।

ऐसी परिस्थितिको
मेरे मनोबल भला कब तक सहेंगे ?
लगता है
होगा इस बार भी वही
प्रश्न मिट जायँगे—उत्तर रहेंगे ।

नवीन संवेदनाओंकी यह अनुभूति, एक सुदृढ़ मानवीय सन्दर्भकी खोज तथा उसके अन्तर्गत एक समग्र जीवन-दृष्टिका विकास नये कविकी लोक संपृक्तिकी सम्बद्ध दिशाएँ हैं । नयी कविताकी नयी पीढ़ी प्रारम्भसे ही इस

ओर बढ़ रही है। मनोहरश्याम जोशीकी लम्बी कविता 'निर्मलके नाम', श्रीराम वर्माकी 'चक्रव्यूह', नित्यानन्द तिवारीकी 'जो सहज है उगेगा', श्याममोहन श्रीवास्तवकी 'दूर यमुना पार' एक विशिष्ट परिवेशकी रचनाएँ हैं। नयी कविताकी इस नयी पीढ़ीमें अनेक नाम जुड़ सकते हैं, जुड़ रहे हैं। आधुनिकताके समूचे सन्दर्भके प्रति एक बौद्धिक दृष्टिकोण तथा व्यापक जागरूकता इस पीढ़ीके साहित्यिक तथा कलात्मक मूल्य हैं।

नयी कविताकी जीवन्त शक्तिका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उसके प्रभावको हिन्दीके प्रायः सभी वर्गोंके कवियोंने मान्यता दी है। इस विस्तृत परिवेशमें नयी कविताकी विभिन्न अन्तर्धाराएँ दीख पड़ती हैं। सुमित्रानन्दन पन्त तथा बालकृष्ण राव छायावादी युगके प्रतिनिधि हैं, नयी कविता जिनकी रचनात्मक प्रक्रियामें अपेक्षाकृत सहज रूपसे समाहित हुई है। नयी कविताके साथ पन्तकी बौद्धिक सहानुभूति तथा उनके नवीन संकलन 'अतिमा' (१९५५) की कुछ कविताएँ उनके जागरूक तथा आधुनिक काव्य-व्यक्तित्वकी परिचायक हैं। बालकृष्ण रावके सॉनेट-संकलन 'रात बीती' (१९५४) तथा नये काव्य-संग्रह 'हमारी राह' (१९५७) में नयी कविताकी संवेदनाएँ स्थान-स्थानपर मिलती हैं। मिल्टनके 'सैम्सन एगोनिस्टिस' का रूपान्तर 'विक्रान्त सैम्सन' (१९५६) प्रस्तुत करते हुए श्री बालकृष्ण-रावने नयी कविताके उपकरणोंका प्रयोग किया है। छायावादोत्तर कालके प्रख्यात गीतकार शम्भूनाथ सिंह नयी कविताके साथ यत्नपूर्वक चले हैं। उनका 'स्वधर्म' का परित्याग संभवतः बहुत श्रेयस्कर सिद्ध नहीं हुआ, यद्यपि 'माध्यम मैं' (१९५८) में संकलित उनकी कुछ कविताएँ विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

प्रयोगवादी वर्गके दो कवि नयी कविताके साथ सामंजस्य नहीं स्थापित कर सके। एक तो नरेश मेहता और दूसरे अजितकुमार। नरेश मेहता भाषा तथा शिल्प-प्रयोगोंमें ऐसे उलझ गये कि उनकी मौलिक प्रतिभा उसीमें बिखर गई। 'दूसरा सप्तक' में संकलित उनकी रचनाओंमें

जो एक ताज़गी थी वह उनके आगेके कृतित्वमें सुरक्षित न रह सकी। अजितकी गद्यात्मक बौद्धिकता तथा सूक्ति-प्रियता उन्हें आगे न बढ़ा पाई। 'एक विज्ञापन' जैसा सफल प्रयोग उनकी बादकी रचनाओंमें कम मिलता है। यदि इन काव्य-प्रतिभाओंका समुचित विकास हुआ होता तो इनका कृतित्व नयी कविताके लिए सचमुच ही स्पृहणीय होता। सप्तक कवियोंमें प्रभाकर माचवे, भारतभूषण अग्रवाल तथा गजानन माधव मुक्तिबोधकी कुछ नयी रचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रयोगवादके अनुकरणपर आविष्कृत तथा मुख्यतः 'पाटल', पटनाके माध्यमसे प्रचारित प्रपद्यवाद अपनी कृत्रिम प्रकृतिके ही कारण कोई स्थायी महत्त्वकी रचना न दे सका। यह सही है कि नयी कविताके प्रारम्भिक विकासके समय प्रपद्यवादको कुछ कवियोंने व्यापक रूपसे एक फ़ैशनके स्तरपर स्वीकार किया, परन्तु न तो वह नयी कविताके परिष्कारमें ही कुछ योग दे सका और न स्वतन्त्र रूपसे अपने अस्तित्वको ही स्थापित कर सका।

नयी कविताके क्षेत्रमें कुछ कवियोंके सर्वथा स्वतन्त्र प्रयोग विशेष रूप-से उल्लेखनीय हैं। रामबहादुर सिंह 'मुक्त' के मुक्तक अत्यन्त संक्षिप्त, प्रभावशाली तथा गत्यात्मक चित्र हैं। मध्यमवर्गीय जीवनकी एक नये तथा अछूते ढंगसे झाँकी उन्होंने प्रस्तुत की है। उनका सम्पूर्ण कृतित्व किसी तेज़ तथा सूझ-बूझवाले फोटोग्राफ़रका एल्बम-सा लगता है, जिसके सभी चित्रोंका एक निश्चित व्यक्तित्व है। भाषाकी सादगी तथा अभि-व्यक्तिकी अनौपचारिकता 'मुक्त' की अपनी विशेषता है।

पिछले कुछ वर्षोंसे नयी कविताके तत्त्वावधानमें मैट्रोपोलिटन जीवनके एकदम नये अंकन प्रस्तुत किये जा रहे हैं। महानगरी बम्बईके विविध संस्कृतिमय रूपके सफल चित्रण 'मुक्त', अनन्तकुमार 'पाषाण', वसन्तदेव तथा रामावतार 'चेतन' ने एक विशेष अन्तर्दृष्टिके साथ उपस्थित किये हैं।

वैसे इस जीवनके प्रमुख विशेषज्ञ 'पाषाण' तथा मुद्राराक्षस (कलकत्ताके प्रसंगमें) हैं।

नयी कविताके अन्य स्वच्छंद प्रयोगकर्त्ताओंमें, कीर्त्ति चौधरी, विजयदेव-नारायण साही, राजेन्द्र माथुर, केदारनाथ सिंह, मलयज, रवीन्द्र 'भ्रमर', हरिमोहन, सत्येन्द्र श्रीवास्तव, शंकुत माथुर, राजेन्द्रकिशोर, शान्ता सिनहा, प्रयाग नारायण त्रिपाठी तथा श्रीहरिके नाम विशेष महत्त्वके हैं। 'नयी कविता'के वर्तमान सम्पादक तथा नवलेखन वर्गके एक विशिष्ट बुद्धिजीवी साहीकी कविताएँ संख्याकी दृष्टिसे अपेक्षाकृत कम होनेपर भी एक नये काव्यव्यक्तित्त्वकी परिचायक हैं। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि साही अभी अपने उस काव्य-व्यक्तित्वकी मौलिक प्रवृत्तिको पहिचान नहीं पाये हैं। इसीलिए एक ओर उन्होंने जहाँ 'हिमालयके आँसू' तथा नयी पीढ़ीके गीत लिखे हैं, वहीं वे 'हम सभी बेचकर आये हैं अपने सपने' जैसी फ़ैंटेसी भी लिख सके हैं।

इन्हींसे काफ़ी भिन्न परन्तु, प्रायः उसी संवेदनात्मक स्तरका व्यक्तित्व मदन वात्स्यायन तथा विपिन अग्रवालका है। सिंदरी फ़ैक्टरीमें कार्य करने-का जो निजी अनुभव मदन वात्स्यायनको है, उसके आधारपर उन्होंने आधु-निक यान्त्रिक संस्कृतिके कुछ बड़े चुभते वर्णन प्रस्तुत किये हैं। यान्त्रिकता तथा मानवीयताके संघर्षको सिंदरीके कविने गहराईसे समझा है। मशीनके सन्दर्भमें मानव नियतिकी चिन्ता विदेशी नवलेखनोंमें बड़े प्रमुख रूपसे उभरी है। पर अभी इस देशमें उद्योग-संस्कृतिके पर्याप्त विकसित न होनेके कारण यह समस्या लेखकों तथा कवियोंका ध्यान अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकी है।

मदन वात्स्यायनकी नव संवेदनाओं तथा अपरिचित शिल्पप्रयोगोंके एकदम विपरीत विपिनका कृतित्व है। मानव-जीवनकी सामान्य स्थितियों तथा भावनाओंको विपिनने मूर्त किया है अपने रेखाचित्रों तथा कविताओंके माध्यमसे। कविकी प्राथमिक वफ़ादारी घरके साथ है। विभिन्न घरेलू

उपकरणों तथा मनःस्थितियोंको एक व्यापक परिवेशमें सहज व्यंगके साथ देख सकनेकी क्षमता विपिनकी अपनी है। इसीलिए विपिनकी आत्मीयता सामान्यतः नये कवियोंमें विरल है। लक्ष्मीकान्त वर्माके सहयोगमें विपिन-का एक काव्य-संकलन प्रकाशित हुआ है—'धुएँकी लकीरें' (१९५६)। विपिनकी काव्य-सम्भावनाएँ नयी कविताके भविष्यको बहुत दूर तक आश्वस्त करती हैं। आधुनिकताकी दृष्टिसे उसका कृतित्व काफ़ी उन्नत तथा परिष्कृत है। उसकी रचनाओंमें भावी काव्य-पद्धतिके संकेत मिलते हैं।

नयी कविता वर्गके सदस्यों तथा सहयोगियोंकी चर्चा करते समय दो तरुण प्रतिभाओंका स्मरण स्वभावतः हो आता है, जो अपने प्रथम यौवनमें ही इस संसारमें नहीं रहीं। स्व० सूर्यप्रताप सिंह तथा सतीशचन्द्र चौबेकी काव्य-प्रतिभाका स्फुरण जिस ढंगसे हुआ, उससे उनकी सम्भावनाओंका अपर्याप्त ज्ञान ही हो पाता है। सूर्यप्रतापके संकलन 'आस्था' (१९५६) की कुछ कविताओंका भावात्मक गद्दरपन विशेष रूपसे आस्वाद्य है। प्रकृति-के सम्बन्धमें कविका दृष्टिकोण नयी कविता जैसा ही तटस्थ था।

सतीशचन्द्र चौबेका व्यक्तित्व सम्भवतः अधिक बौद्धिक तथा परिपक्व था। 'निकष' के ३-४ अंकके 'फ़्रंटिस्पीस' के रूपमें प्रकाशित कविकी 'रोशन हाथोंकी दस्तकें' शीर्षक कविता नयी कविताकी एक विशिष्ट उपलब्धि है—

> प्राचीकी साँझ और पश्चिमकी रात
> इनकी वयःसंधिका जश्न है आज
>
> मजारोंपर चिराग़ बालनेवाले हाथ
> (जो शायद किसी रूहके ही हों)
> ठहर जायें !
>
> नदियोंपर दीये बहानेवाले हाथ
> (जो शायद किसी नववधूके ही हों)
> ठहर जायें !

अँधेरी गलियोंमें लंप जलानेवाले हाथ
(जो शायद किसी मज़दूरके ही हों)
ठहर ज़ायें !

सभी रोशनी देनेवाले हाथ
मिलें, और कसकर बाँध लें एक दूसरेको आज
ताकि यहींसे म:रना शुरू करें दस्तकें
विश्वके अँधेरे कपाटोंपर
वे मिले-जुले-कसकर-बँधे रोशन हाथ !

× × ×

नयी कविताके प्रमुख व्यक्तित्वोंके स्वतन्त्र अध्ययनसे कुछ ऐसे निष्कर्ष निकलते हैं, जिनसे इस नव काव्य-आन्दोलनकी मौलिक प्रवृत्तियोंपर प्रकाश पड़ता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि नयी कविता मूलतः मनुष्यकी उसके वास्तविक परिवेशमें उसके सारे लघु हर्ष-विषादोंके साथ एक मानवीय कथा है। कविताके लिए महान् तथा भव्य उपादानोंको आज की जनतन्त्रीय संस्कृतिने स्वीकार नहीं किया। इस लघु मानवकी कथाको ही विभिन्न नये कवियोंने अपने-अपने ढंगसे चित्रित किया है। इस चित्रण-शैलीके अलग-अलग रूप हो सकते हैं, पर मूल संवेदना सबके लिए प्रायः एक ही है।

आजका मानव जिस परिवेशमें प्रतिष्ठित है, उसकी समस्याएँ प्रमुख रूपसे बौद्धिक हैं। आवेग, आवेश, उत्साह तथा दया सम्भवतः वर्त्तमान सन्दर्भमें अनावश्यक-से हो चले हैं। लोकतन्त्रकी आधार-शिला तर्क-पद्धति है। भावुकता फ़ासिज़्म, टोटैलिटेरियनिज़्म, अधिनायकवाद अथवा एकतन्त्रीय राज्य-प्रणालियोंके अधिक अनुकूल है। प्रजातन्त्रकी मौलिक मान्यताओंसे विकसित नयी कविताको इसीलिए मूलतः बौद्धिक रहना है। पर नयी कविता-

की बौद्धिकता तर्कशास्त्रीय अथवा दर्शनके ऊहापोहसे आच्छादित नहीं है। उसकी दृष्टिमें बौद्धिकता केवल बौद्धिकताके लिए नहीं है। उसका मूल लक्ष्य है मानवीय चेतनाको विकसित करनेके लिए प्रजातन्त्रके आधारोंको अधिकाधिक मज़बूत करना। इसी परिप्रेक्ष्यके अनुरूप नयी कवितामें एक तटस्थ तथा संतुलित बौद्धिकता मिलती है, जो आधुनिक व्यक्तित्वका सहज गुण है।

मानव नियतिके सम्बन्धमें चिन्ताका एक परिणाम यह हुआ कि प्रकृतिके प्रति नयी कविताका दृष्टिकोण आमूल परिवर्त्तित हो गया है। कवितामें सामान्यतः प्रकृतिको लेकर दो स्थितियाँ मिलती हैं—(१) प्रकृतिके साथ सहभोग तथा साहचर्यकी स्थिति, जो अँग्रेज़ीके रोमांटिकों तथा आंशिक रूपसे हिन्दीके छायावादी कवियोंमें मिलती है, और (२) प्रकृतिको काव्यका एक बाह्य उपादान मानकर चलनेकी प्रवृत्ति, जिसका प्रमुख उदाहरण हिन्दीके रीतिकालमें देखा जा सकता है। पर नयी कविताके सन्दर्भमें ये दोनों ही दृष्टिकोण एकांतिक हैं। एकमें प्रकृतिका महत्त्व दार्शनिक स्तरपर बहुत बढ़ गया है, जब कि दूसरेमें प्रकृतिको एक नितान्त आनुषंगिक तथा बाह्य पदार्थ मान लिया गया है। नयी कविताका प्रकृतिके प्रति दृष्टिकोण तटस्थ रागात्मकताका है, जिसके अनुसार मानवीय जीवन-क्रममें प्रकृतिका अनिवार्य महत्त्व है तो, पर स्वयं मनुष्यके बराबर नहीं। इसीलिए रोमांटिक कविताएँ अथवा मानवीय भावनाओंको अभिव्यक्त करनेवाले प्रकृति-चित्र नयी कविताके अन्तर्गत नहीं रक्खे जा सकते। नयी कविता वस्तुतः प्रकृति, यंत्र तथा मानवमें सानुपात सम्बन्ध स्थिर करती है। प्रकृतिवाद तथा यान्त्रिकता दोनों ही नयी कविताके परिवेशमें अधूरे तथा अपर्याप्त हैं। आधुनिक विचार-प्रणालीमें दोनोंका संपृक्त रूप विज्ञान-युगके अनुकूल एक व्यापक मानवतावादका निर्माण करता है।

यदि शिल्पकी दृष्टिसे देखा जाय तो निश्चय ही नयी कविता गद्यके समीप आ गई है। इस विकासका मूल कारण स्वतः नयी कविताकी मौलिक

प्रकृतिमें निहित है। बौद्धिक दृष्टिकोणकी समुचित अभिव्यक्ति गद्यके माध्यमसे ही हो सकती है। और यही कलात्मक विकासकी दिशा भी है। उपकरणोंका सूक्ष्म होना कलाकी श्रेष्ठताका द्योतक है। इसी आधारपर पाँच कलाओंमेंसे हेगेलने काव्य-कलाको सर्वोत्कृष्ट माना था। इस दृष्टिसे कविताने भी अपने उपकरणोंको सूक्ष्मतर बनाया है। पहले तुकका आग्रह छोड़ा गया, फिर छन्दका और अब सम्भवतः ध्वन्यात्मक लयको भी कविताके लिए अनिवार्य नहीं माना जा सकता। इस नये वर्गकी कविताओंके लिए लेखक द्वारा 'गद्य कविता' नाम प्रस्तावित किया गया है, और नयी कविताका अधिकांश शिल्पकी दृष्टिसे इस श्रेणीके अन्तर्गत सुविधापूर्वक रक्खा जा सकता है।

नयी कविताके शिल्पका दूसरा पक्ष है बिम्ब-विधान। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य है कि प्रयोगवाद तथा नयी कविताको समीक्षक मुख्यतः एक शिल्पगत आन्दोलन मानते हैं (द्रष्टव्य—जगदीशचन्द्र माथुरका 'भारतीय भाषाओंके साहित्य' शीर्षक आकाशवाणी परिसंवादमें आधुनिक हिन्दी साहित्यसे सम्बन्धित अंश), जब कि वास्तविकता यह है कि हिन्दी नयी कविताका शिल्प-पक्ष अभी बहुत कुछ अविकसित तथा कमज़ोर है। बिम्ब-विधानकी दृष्टिसे नयी कवितामें बहुत सफल प्रयोग नहीं हो सके हैं। वैयक्तिक भाव-चित्र (private imagery), जो नयी कविताके शिल्पका एक प्रमुख तत्त्व है, प्रधानतः अज्ञेय, शमशेर तथा कुँवरनारायणमें मिलते हैं। आधुनिक औद्योगिक तथा युद्ध संस्कृतिसे लिये गये बिम्ब भी बहुत कम हैं। यह अवश्य है कि परम्परागत बिम्ब-विधानोंको नयी कविताने स्वीकार नहीं किया है। पर इस अभावकी पूर्तिके लिए कुछ बिम्ब मात्र चमत्कार उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे प्रस्तुत किये गये हैं, जो एक प्रकारसे नये कविके असफल शिल्पके द्योतक हैं। पर यह सही है कि इस देशका जीवन अभी ऐसा नहीं है, जिसमेंसे सहज-स्वाभाविक रूपसे औद्योगिक संस्कृतिके बिम्ब ग्रहण किये जा सकें।

नयी कविताकी विशिष्टताकी चर्चा करते हुए यह स्मरण रखना चाहिए

कि हिन्दी नयी कविताकी ये प्रवृत्तियाँ एक विश्व-व्यापी काव्य-आन्दोलनकी प्रतिनिधि हैं। जो विशेषताएँ हिन्दीकी नयी कवितामें मिलती हैं, वे ही विशेषताएँ किन्हीं-न-किन्हीं रूपोंमें भारतकी अन्य प्रान्तीय भाषाओंकी आधुनिक कवितामें द्रष्टव्य हैं। इसी प्रकारसे अन्य देशोंके समृद्ध काव्य-साहित्यमें भी कविताके विकासमें ये प्रवृत्तियाँ मूलतः कार्य कर रही हैं। वस्तुतः ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक परिप्रेक्ष्यमें नयी कविताका आन्दोलन—या कहिए विकास—एक सुनिश्चित अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर हो रहा है। अतः नयी कविताके प्रसंगमें विदेशी प्रभावोंकी कल्पना बहुत कुछ असंगत जान पड़ती है।

संवेदनात्मक शक्ति तथा भावबोधकी दृष्टिसे नयी कविताकी काफ़ी तीखी आलोचना हुई है। इस प्रसंगमें यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि नयी कविताकी संपृक्त अनुभूतिके लिए पाठकका कुछ प्रशिक्षण आवश्यक है, क्योंकि यह कविता नयी संवेदनासे सम्बद्ध है। सामान्य तथा औसत पाठकके लिए नयी कविता अभी तो सहज-संवेद्य नहीं हो सकती, पर जब ये नवीन संवेदनाएँ सामान्य हो चलेंगी तो नयी कविताका आस्वादन भी व्यापक हो जायगा। यहाँ यह स्मरणीय है कि नया कवि कविताको प्रेरणाके क्षणसे ही उद्भूत नहीं मान पाता, क्योंकि वह भावुकताकी अपेक्षा बौद्धकतासे अधिक सम्पृक्त है। उसके लिए कविताकी रचनात्मक प्रक्रिया काफ़ी जटिल तथा लम्बी है। इसके विपरीत वह यह समझता है कि उसकी कविताका आस्वादन अवश्य एक विशिष्ट क्षण तथा मनःस्थितिमें सम्भव है। इस प्रकार नयी कविताके सृजनके क्षण उतने विशिष्ट नहीं जितने कि उसके आस्वादनके क्षण। नयी कवितामें पाठककी जितनी महत्ता है उतनी अबसे पूर्व कदाचित् कभी न थी। नयी कविताका पाठक अपने कविकी संवेदनाका वास्तविक साझीदार है। इसीलिए सामान्य क्षणोंमें तथा सामान्य मनःस्थितिमें वह नयी कविताकी मूल प्रकृति तक नहीं पहुँच पाता। नयी कविताका सृजन एक लम्बी प्रक्रिया है, पर पाठकके लिए

उसकी अनुभूति केन्द्रीभूत होकर किसी विशिष्ट क्षणमें ही मिल पाती है। यह विशिष्ट क्षण कविकी प्रेरणाका न होकर अब पाठककी प्रेरणाका है।

अन्तमें एक बात नयी कविताके नामकरणके सम्बन्धमें कहनी है। वैसे तो प्रत्येक नवीन युगकी कवितामें कुछ-न-कुछ नवीनता होती है, परन्तु आधुनिक कवितामें काव्यके सम्बन्धमें समूचा दृष्टिकोण बदल गया है। इस समूचे दृष्टिकोणमें परिवर्तनके कारण ही 'नयी कविता' नामकरण-की सार्थकता है। कुछ समीक्षकोंकी आपत्ति यह है कि यदि आधुनिक युग-की कविताको नयी कविताकी संज्ञा दी गई तो फिर कालान्तरमें जब यह पुरानी पड़ जायगी तो फिर नयी आनेवाली कविताको क्या कहा जायगा। इस सम्बन्धमें केवल यही कहा जा सकता है कि ठीक इसी प्रकारकी 'कठिनाई' साहित्यके इतिहासमें 'आधुनिक' कालको लेकर है, क्योंकि यह 'आधुनिक काल' अन्ततः कब तक चल सकता है! पर ये नामकरण युगीन प्रवृत्तियोंके अनुरूप होते हैं, अतः एक प्रकारसे अनिवार्य हैं। भविष्य-के इतिहासकारोंको भी इस बातको लेकर कोई असुविधा न होगी, क्योंकि तब 'नयी कविता' या 'आधुनिक काल' जैसे शब्द केवल रूढ़ अर्थमें प्रयुक्त होंगे, और नये विकसित होनेवाले साहित्यके दूसरे नये नाम हो सकेंगे। 'नयी' शब्दके सम्बन्धमें कुछ समीक्षकोंकी प्रच्छन्न कठिनाई यह भी जान पड़ती है कि वे 'नयी' तथा 'अच्छी' को समानार्थक मान लेते हैं। पर जैसा कि स्पष्ट है, यह कठिनाई स्वतः उनके मनकी है, और यदि वे चाहें तो इसे आसानीसे दूर कर सकते हैं। क्योंकि वस्तुतः नयी कविता अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी, सफल भी हो सकती है और असफल भी। 'नया' विशेषण मात्र नवोन्मेषका सूचक है, उस उन्मेषकी सफलता अथवा असफ-लताका नहीं!

नयी कविता—२

['अन्धा युग' : नवलेखनकी एक मौलिक अभिव्यक्ति]

उपलब्धि तथा सम्भावना—दोनों ही दृष्टियोंसे हिन्दी नवलेखनकी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है धर्मवीर भारतीका दृश्य काव्य 'अन्धा युग' (१९५५)। जिस रचनाकी समसामयिक सन्दर्भमें नितान्त संगति होती है, वही आगे चलकर शाश्वत तथा स्थायी साहित्यका अंग भी बन सकती है। 'अन्धा युग' की मूल कथा-वस्तु यद्यपि पौराणिक है, पर उसका रेशा-रेशा आधुनिक युगकी समस्याओं तथा स्थितियोंसे बना है। समसामयिकताके गम्भीर दायित्वका पूर्ण निर्वहण भारतीकी इस कृतिमें मिलता है। अपने परिवेशमें उसकी संगति निर्विवाद है, स्थायी साहित्यका अंग वह बन सकेगी, यह भविष्यवाणी करना समीक्षकका काम नहीं है।

'अन्धा युग' की मौलिक प्रेरणा वर्तमान युगीन आस्थाओंका विघटन है। आधुनिक युद्ध-संस्कृतिके विकृत मूल्यों तथा जर्जर विश्वासोंने कविके गहरे भावबोधको विकसित किया है। संकटके इस युगमें कविकी आस्था एक आस्तिककी है, धार्मिककी नहीं। 'अन्धा युग' के श्रीकृष्ण मर्यादा तथा दायित्वके प्रतीक हैं, निर्भय तथा मुक्त आचरणके प्रतिष्ठापक हैं। वे 'प्रभु' हैं अवश्य, पर उनकी अनासक्त कर्म-पद्धति स्वतः उनसे भी बड़ी है।

पता नहीं
प्रभु हैं या नहीं
किंतु उस दिन यह सिद्ध हुआ
जब कोई भी मनुष्य

अनासक्त होकर, चुनौती देता है इतिहासको
उस दिन नक्षत्रोंकी दिशा बदल जाती है।
नियति नहीं है पूर्व निर्धारित
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता मिटाता है।

इसी सन्दर्भमें व्यक्ति इतिहासका एक अंग होते हुए भी उसका निर्माता तथा नियामक है। 'अन्धा युग' के कृष्ण इतिहासके नियन्ता होनेके कारण ही 'प्रभु' हैं, मानव-नियति हैं, जिसे वे स्वतः बना सकते हैं। कृष्णका यह चरित्रांकन बहुत कुछ गीतासे प्रभावित है। पर द्वापरके इस महापुरुषका मानवतावादी धरातलपर चित्रण कविने सर्वथा अपने ढंगसे किया है। कृष्णका चरित्र एक ओर यदि भावुक रहस्यवादितामें अन्तर्भुक्त हो जाता है तो दूसरी ओर उसकी नितान्त धर्म-निरपेक्ष व्याख्या भी मिलती है। पर उसकी मौलिक भाव-भूमि बौद्धिक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। सुदृढ़ मानवतावादपर आधारित कविकी आस्था अजेय है, अटूट है। अश्वत्थामा तथा युयुत्सु जैसे सशक्त चरित्रोंको भी उसके सम्मुख झुकना पड़ता है।

ब्रह्मास्त्रोंके युगकी कथा आणविक संस्कृतिसे अलग नहीं जान पड़ती। महाभारतके शीत तथा गरम युद्धोंको नवीन रूपमें अवतरित करनेवाली मानव-पीढ़ीके लिए 'अन्धा युग' का प्रकाशन नितान्त सामयिक है। द्वापर युगकी नैतिक तथा राजनैतिक समस्याएँ आज कुछ उन्हीं रूपोंमें फिर हमारे सम्मुख उपस्थित हैं। भौतिक संस्कृतिका चरम उत्कर्ष सही दिशाओंमें न जानेपर मानवीय विकृतियोंका सबसे बड़ा कारण होता है। इतिहाससे व्यक्ति यदि कुछ सीख पाता तो संस्कृतिका विकास चक्राकार न होकर सम्भवतः सीधी रेखाके रूपमें होता। अश्वत्थामाको व्यास द्वारा दी गई चेतावनी आज भी उतनी ही सत्य है, जितनी महाभारतके अन्तमें थी:—

मैं हूँ व्यास।
ज्ञात क्या तुम्हें है परिणाम इस ब्रह्मास्त्रका।

यदि यह लक्ष्य सिद्ध हुआ ओ नरपशु !
तो आगे आनेवाली सदियोंतक
पृथ्वीपर रसमय वनस्पति नहीं होगी
शिशु पैदा होंगे विकलांग और कुष्टग्रस्त
सारी मनुष्य जाति बौनी हो जायगी

जो कुछ भी ज्ञान संचित किया है मनुष्यने
सतयुगमें, त्रेतामें, द्वापरमें
सदा-सदाके लिए होगा विलीन वह
गेहूँकी बालोंमें सर्प फुफकारेंगे
नदियोंमें बह-बह कर आयेगी पिघली आग।

'अन्धा युग' की आधुनिक संगति उस बहुप्रसिद्ध कथनका स्मरण दिलाती है कि साहित्यमें तिथियों और नामोंको छोड़कर शेष सब सच होता है। यदि यह बात पहले न कही गई होती तो 'अन्धा युग' का अध्ययन निश्चय ही इस तथ्यको आविष्कृत कर सकता था। पौराणिक कथानकको लेकर अपने युगके प्रति इतना गहरा 'कन्सर्न' किसी अन्य रचनामें कठिनाईसे मिलेगा। और यह स्मरणीय है कि 'अन्धा युग' समासोक्ति अथवा रूपक नहीं है, वह इतिहासकी पुनरावृत्तिका सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन है।

'अन्धा युग' का परिवेश युद्ध-संस्कृति तथा आत्मघाती मनोवृत्तिसे बना है, और उसमें सत्य, मर्यादा तथा दायित्वके प्रश्नोंको उठाया गया है। विकृतियोंके सन्दर्भमें नयी नैतिकताकी माँग जितनी स्वाभाविक है, उतनी ही कठिन भी। ऐसे समयमें निराशा, पलायनवाद तथा ह्राससे ऊपर उठकर कलाकारका दायित्व नयी मर्यादाके स्थापनका होता है। परन्तु यदि यह दायित्व सुधारक अथवा उपदेशकके स्तरका होता है तो उसमें कलाका अस्तित्व नहीं रह जाता। मूल्योंके विघटनके समय साहित्य-सृजन इसीलिए

कठिन अध्यवसाय तथा गहरी संवेदनाकी अपेक्षा रखता है। कलाकारको सामाजिक विकृतियोंके बीचमें रहकर पहले तो अपने व्यक्तित्वकी रक्षा करनी पड़ती है और फिर नये मूल्यों तथा प्रतिमानोंको निर्मित करना होता है। अपने तथा पाठकके व्यक्तित्वोंके प्रति इस दुहरे दायित्वके बाद उसे अपनी संवेदनाको उपदेशात्मक मनोवृत्तिमें परिणत हो जानेसे बचाना पड़ता है। उपदेशकका कार्य हेय नहीं है, पर कवि-कर्म उससे निश्चय ही भिन्न तथा दूसरे स्तरका है।

भारतीका प्रस्तुत दृश्य-काव्य इन सभी शर्तोंको पूरा करता है। 'अन्धा युग'की भूमिकामें कविने अपनी इस रचनात्मक प्रक्रियाका उल्लेख किया है—"कुंठा, निराशा, रक्तपात, प्रतिशोध, विकृति, कुरूपता, अन्धापन—इनसे हिचकिचाना क्या। इन्हींमें तो सत्यके दुर्लभ कण छिपे हुए हैं, तो इनमें निडर क्यों न धँसू! इनमें धँसकर भी मैं मर नहीं सकता!" और अपनी उपलब्धिकी सामाजिक मर्यादाकी भी कविको अनुभूति रही है—"मैंने जब वेदना सबकी भोगी है, तो जो सत्य पाया है, वह अकेले मेरा कैसे हुआ? एक धरातल ऐसा भी होता है, जहाँ 'निजी' और 'व्यापक'का बाह्य अन्तर मिट जाता है। वे भिन्न नहीं रहते। 'कहियत भिन्न न भिन्न'।" इस प्रकार यह लोक संपृक्ति, जो नयी कविताकी एक प्रमुख विशेषता है, 'अन्धा युग'की भाव-भूमिका अभिन्न अंग है। और इसीलिए इस कृतिमें यथार्थवादके अन्वेषणकी आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि उसका समूचा कथानक तथा प्रेरणा अपने आपमें, यथार्थ है। आदर्श अथवा यथार्थ दोनों हीका आग्रह कला-कृतिकी श्रेष्ठताका द्योतक नहीं होता। बौद्धिक तटस्थता तथा संतुलन संपृक्त चिन्तनकी उपलब्धि हैं, और ये तीनों तत्त्व 'अन्धा युग'को एक विशिष्ट गरिमा प्रदान करते हैं।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा आस्थाकी भावना एक मनःस्थितिसे उद्भूत हो सकती हैं। कृष्णका चरित्रांकन एक इतिहास-नियामक व्यक्तिके रूपमें

करके भारतीने इन दोनों ही स्थितियोंको आचरणकी मर्यादाके रूपमें स्वीकार किया है—

पर एक तत्त्व है बीज रूप स्थित मनमें
साहसमें, स्वतन्त्रतामें, नूतन सर्जनमें,
वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवनमें
दायित्व युक्त, मर्यादित मुक्त आचरणमें

कुछ समीक्षकोंको इन पंक्तियोंमें भी असामाजिक मनोवृत्तिके दर्शन हो सकते हैं, पर इस वैकल्पिक भ्रमके लिए कवि ज़िम्मेदार नहीं है। उद्धरणकी अन्तिम दो पंक्तियोंमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्यका जो संपृक्त रूप उपस्थित किया गया है, वह वस्तुतः नवलेखनकी मानववादी आधारभूमि है। मानव नियतिमें वरण करनेके साथ-साथ जो दायित्वकी भावना अविच्छिन्न रूपसे सम्बद्ध है, वह व्यक्तित्वके विकासमें आस्थाकी द्योतक है। और इसीसे आधुनिक चिंतन-क्रममें व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको एक अनिवार्य मूल्यके रूपमें स्वीकार किया गया है, क्योंकि दायित्वकी भावना तो उसमें स्वतः अन्तर्निहित है। डे लुइसके शब्दोंमें—

फ्रीडम इज़ मोर दैन ए वर्ड, मोर दैन द बेस कौइनेज
ऑफ़ स्टेट्समैन, द टाइरैंट्स डिसऑनर्ड चैक, ऑर द ड्रीमर्स
इनफ़्लेटेड करैन्सी।

इस दृष्टिसे समूचे यूरोपियन नवलेखनके आन्दोलनको स्वातन्त्र्यकी भावनासे प्रेरित माना जा सकता है—वह स्वातन्त्र्य चाहे यांत्रिकतामें बद्ध मानवीय आत्माका हो और चाहे फ़ासिस्टोंके चंगुलमें पड़े स्पेनका हो। इस स्वातन्त्र्य आन्दोलनका ही राजनीतिक नाम प्रजातांत्रिक समाजवाद है, जो आजके विचारकों, साहित्यकारों तथा बुद्धिजीवियोंका मुख्य लक्ष्य है।

हिन्दी नवलेखन इस व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय चिन्तन-प्रधान आन्दोलनकी एक अनिवार्य कड़ी है। आस्थाकी उपलब्धिके लिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पहली

६

शर्त है, और यही दृष्टि भारतीके 'अन्धा युग' में व्यक्त हुई है। आस्थाका प्रश्न संजय, युयुत्सु तथा अश्वत्थामाके माध्यमसे कविने प्रस्तुत किया है, और अनास्थाकों आस्थाकी आवश्यक भूमिकाके रूपमें स्वीकार किया है। समस्त मानवताके प्रतीक कृष्णके प्रति विदुरका आग्रहपूर्ण निवेदन है—

यह कटु निराशाकी
उद्धत अनास्था है।
क्षमा करो प्रभु!
यह कटु अनास्था भी अपने
चरणोंमें स्वीकार करो!
आस्था तुम लेते हो
लेगा अनास्था कौन?

गीतामें कृष्णका जो नितान्त असाम्प्रदायिक तथा व्यापक रूप प्रस्तुत किया गया है उसका कविके अन्तर्मनमें गहरा प्रभाव द्रष्टव्य है। गीता और 'अन्धःयुग' दोनोंमें ही कृष्ण एक इतिहास निर्मात्री चेतना शक्तिके रूपमें प्रस्तुत किये गये हैं, जिसका परम्परागत धर्म तथा कर्मकांडसे कोई सम्बन्ध नहीं है। कृष्णका यह कथन—

अट्ठारह दिनोंके इस भीषण संग्राममें
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार
जितनी बार जो भी सैनिक धराशायी हुआ
कोई नहीं था
वह मैं ही था
गिरता था घायल होकर जो रणभूमिमें।

सर्वात्मवादी दर्शनसे उद्भूत नहीं वरन् एक व्यापक युग-चेतनाकी ओर संकेत करता है। यह व्यापक युग-चेतना मनुष्यकी आस्थाको बराबर वहन करती है, जो वस्तुतः मानवीय मर्यादाओं और मूल्योंका ही पुंजीभूत और

गत्यात्मक रूप है। उपर्युक्त उद्धरण इस सन्दर्भमें गीताके कृष्णकी एक आधुनिक युगीन व्याख्या मात्र है। परन्तु युग-युगोंसे विभिन्न पुराणों, लोक-कथाओं, धार्मिक और साहित्यिक ग्रंथोंमें उलझे हुए कृष्णके व्यक्तित्व-को वर्तमानमें संगति देकर सुलझा पाना भारती जैसे चिन्तक-कलाकारका ही काम था।

आस्थाके प्रति अनास्थाका सबसे गहरा स्वर 'अन्धा युग'के युयुत्सुका है, जो आधुनिक आचरणके विभ्रमोंका प्रतीक है, जिसका जीवनगत निष्कर्ष है—

> अन्तिम परिणतिमें
> दोनों जर्जर करते हैं
> पक्ष चाहे सत्यका हो
> अथवा असत्यका।

और प्रेतावस्थामें भी उसके हृदयका अन्तर्विरोध शान्त नहीं होता। वह अट्टहास करके आस्थाको घिसा हुआ सिक्का बताता है। पर इस नकली और खोटे सिक्केको फेंककर भी वह उसे दूसरे रूपमें ग्रहण करता है—

> इसीलिए साहससे कहता हूँ
> नियति है हमारी बँधी प्रभुके मरणसे नहीं
> मानव भविष्यसे;
> परीक्षितके जीवनसे;

मानवीय नियतिका यह 'कन्सर्न' सारे मतवादों और सम्प्रदायोंसे ऊपर उठकर सीधे मानव भविष्यसे है। नैतिक आचरणके लिए किसी भी प्रकारके साम्प्रदायिक धर्म तथा कर्मकाण्डकी आवश्यकता नहीं है, यही वैज्ञानिक मानववादकी मूल मान्यता है। और इसी सन्दर्भमें आस्तिककी संगति तथा धार्मिककी अनावश्यकता सिद्ध होती है। भारतीकी आस्था कृष्णके माध्यमसे व्यक्त व्यापक युग-चेतना तथा सम्पूर्ण मानवमें है।

आस्थासे ही सम्बद्ध 'अन्धा युग'में मर्यादित कर्म तथा सत्यकी समस्या है। युधिष्ठिरका अर्द्ध-सत्य इतिहासमें मिथ्याके साथ कदाचित् सबसे बड़ा समझौता रहा है। धर्मराज द्वारा किया गया धर्मका यह अभिनय समस्त मानवीय संकल्पोंके प्रतिकूल था। अश्वत्थामाकी प्रतिहिंसा और तज्जन्य संहार मानो महाभारतका एक अपेक्षाकृत बड़ा परिशिष्ट है। इस परिशिष्ट-से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध होनेके कारण 'अन्धायुग'का लेखक इस अर्द्ध सत्यकी मीमांसा करता है, और उसकी सहानुभूति बहुत दूर तक अश्वत्थामाके साथ दिखाई देती है। इस सहानुभूतिके ही कारण यह चरित्र सबसे अधिक जीवन्त तथा सशक्त बन पड़ा है। 'अन्धायुग'की प्रायः सभी समस्याओंका वह केन्द्र-बिन्दु है, और प्रस्तुत दृश्य-काव्यके समापन तक उसका चरित्र बराबर निखरता गया है।

आधुनिक सन्दर्भमें 'अन्धायुग' का एक प्रतिपाद्य यह भी है कि युद्धके समय सारी घोषणाओंके बावजूद सत्य अथवा धर्म किसी पक्षमें अक्षुण्ण नहीं रह पाता। यह उस उक्तिका स्मरण दिलाता है जिसके अनुसार किसी भी युद्धमें सत्य पहला आहत होता है। पहले अंकके प्रारम्भमें कवि कहता है—

> टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
> उसको दोनों ही पक्षोंने तोड़ा है
> पाण्डवने कुछ कम कौरवने कुछ ज्यादा

और इसी बातका अनुभव गांधारी करती है—

> मैंने कहा था दुर्योधनसे
> धर्म जिधर होगा ओ मूर्ख !
> उधर जय होगी !
> धर्म किसी ओर नहीं था लेकिन !
> सब ही थे अन्धी प्रवृत्तियोंसे परिचालित

आजकी युद्ध-संस्कृतिमें भारती द्वारा महाभारतका यह पुनरन्वेषण गम्भीर महत्त्व रखता है। शान्तिकी मर्यादाको समझनेसे पूर्व युद्धकी विकृतियोंका समझा जाना आवश्यक है। 'अन्धा युग' इस दिशामें एक महत्त्वपूर्ण क़दम है।

भारतीका मानववाद एक क्रियात्मक तथा रचनात्मक शक्ति है। महाभारतके समान ही 'अन्धा युग' के पात्रोंमें भी किसीका चरित्र सर्वथा निर्मल नहीं है। पतिव्रता गान्धारी, धर्मराज युधिष्ठिर तथा मर्यादा-रक्षक कृष्ण सभीके व्यक्तित्वोंमें कहीं-न-कहीं धब्बा अवश्य है, क्योंकि वे सब मानवीय विकासकी सीढ़ियाँ हैं। इस विकासको सतत आगे बढ़ाते जाना ही मानववादीकी सबसे बड़ी आस्था है। कृष्णका यह आश्वासन—

मर्यादायुक्त आचरणमें
नित नूतन सृजनमें
निर्भयताके
साहसके
ममताके
रसके
क्षणमें
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार-बार

सम्पूर्ण मानव जीवनको एक सार्थकता प्रदान करता है। इस दृष्टिसे 'अन्धा युग' न पक्षधर है, न सुविचारित 'थर्ड फ़ोर्स'; वह मानवीय मनोवृत्तियोंके गम्भीर और सन्तुलित अध्ययनपर आधारित एक रचनात्मक दृष्टि है, जिसका मूलभूत आधार वैज्ञानिक तथा आस्तिक मानववाद है। इसीलिए उसमें ऐतिहासिक संगति और समसामयिकताके दायित्वका निर्वाह दोनों ही हैं।

'अन्धायुग' की गणना उन अत्यन्त विरल और सशक्त कृतियोंमें की जा सकती है, जिनकी शक्ति और संवेदना एक ऐसे संपृक्त रूपमें उभरती है,

जहाँ भाव-पक्ष और कला-पक्ष जैसे विभाजन सचमुच ही कृत्रिम लगने लगते हैं। पर फिर भी यदि यत्नपूर्वक इस दृश्य-काव्यको तन्त्रकी दृष्टिसे देखा ही जाये तो उसका गठन-कौशल अद्यतन लगेगा। किन्तु यह निर्धारित कर पाना कि उसमें नाटकीय तत्त्व अधिक हैं अथवा काव्यके, प्रायः दुष्कर है। अंग्रेज़ी नवलेखनके प्रारम्भमें 'वर्स प्ले' की जो अत्यन्त सशक्त परम्परा थी, उसका मानो सूत्रपात अब हिन्दीमें हुआ है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'अन्धायुग' का महाकाव्यत्व इन अंग्रेज़ी 'वर्स प्ले' की योजनामें कहीं नहीं मिलता। महाकाव्य जैसी गरिमा तथा आधुनिक नाटककी तीव्र संवेदनात्मकताको नयी कविताके शिल्पमें जो एक सम्पृक्त रूप मिला है, वह प्रयोग, परम्परा तथा उपलब्धि—सभी दृष्टियोंसे कविकी असाधारण शक्ति सम्पन्नताका परिचायक है। वैयक्तिक उपलब्धिकी दृष्टिसे 'अन्धायुग' नयी कविताका एक अपवाद है। अपनी मौलिक प्रकृतिके अनुरूप नयी कविता वास्तविक रूपमें एक तीक्ष्ण धारा है, जिसमें द्वीपोंका सामान्यतः अस्तित्व नहीं। पर भारतीके कविकी यह अद्‌भुत प्रतिभा नयी कविताको भी महाकाव्यत्वका गौरव दे सकी है, और इस तेज़, सामूहिक धारामें भी एक द्वीप बना सकी है। हिन्दी नवलेखन साहित्यिक महापुरुषोंको सम्भवतः जन्म नहीं दे सकता, क्योंकि यह विशुद्ध प्रजातन्त्रकी उपज है; परन्तु सामूहिक उपलब्धिके अन्तर्गत भी व्यक्तिगत कृतित्व ऊपर उठ सकेगा, यह 'अन्धायुग' के माध्यमसे देखा जा सकता है। 'अन्धायुग' नवलेखनकी एक मौलिक अभिव्यक्ति होते हुए भी, इस दृष्टिसे नवलेखनकी सामान्य पद्धतिका अपवाद है। और यह अपवाद होना मानो उसकी शक्ति तथा सक्षमताका सूचक है।

असमय वृद्ध कथा-साहित्य

प्रयोगवाद तथा नवलेखनके तत्त्वावधानमें लिखे गये हिन्दी कथा-साहित्य-की स्थिति इतिहासके सन्दर्भमें कुछ विचित्र-सी लगती है। विना प्रौढ़ तथा परिपक्व हुए वह प्रयोगशील हो चला है। क्लैसिक्स और मास्टर्सकी परम्पराके अभावमें यह यत्न कुछ उपहासास्पद लगता है। क्योंकि विकासकी बहुत-सी मंजिलोंको एक साथ पार करनेका उद्योग साहित्यिक संवेदनको मोंथरा बना देता है। हिन्दीके नये कथा-साहित्यकी स्थिति आज बहुत-कुछ ऐसी ही है। परम्परागत समृद्धिके अभावमें आधुनिक अमेरिकन कथा-साहित्यका भी विकास कुछ इसी ढंगसे हुआ है। परं उनका प्रायः सम्पूर्ण साहित्य मानो नवलेखनसे ही आरम्भ होता है।

प्रसंगसे अलग होते हुए भी यह प्रश्न संगत है कि हिन्दी कथा-साहित्य यूरोपके जैसे मास्टर्सको जन्म क्यों नहीं दे सका? इस समस्याके समाधानका यत्न कई स्तरोंपर किया जा सकता है। सामाजिक परिस्थितियोंके क्षेत्रमें अभी भारतीय-जीवनने वे बहुत-से संघर्ष नहीं देखे जो क्लैसिकल कथा-साहित्यके प्रधान उपजीव्य हैं। व्यापक औद्योगीकरण, धर्मके संगठित रूपका राजनीतिमें हस्तक्षेप, यान्त्रिकताके सन्दर्भमें मानवीय विवशता और नवीन-तम विज्ञानके सहारे लड़े जानेवाले युद्ध—आधुनिक समाजकी इन सभी परिस्थितियोंका सुना और परिकल्पित ज्ञान तो हमें है, पर उनकी निजी तथा वैयक्तिक अनुभूति नहीं है। इसीलिए इन आधुनिक उपकरणोंका कोई भी समुचित उपयोग हमारे कथा-साहित्यमें नहीं हो पाया। इसके अतिरिक्त कालक्रमकी दृष्टिसे हिन्दीका उपन्यास अपेक्षाकृत अर्वाचीन होनेके कारण

शिल्प सम्बन्धी प्रयोगों और निखारको नहीं पा सका (हिन्दीका प्रथम मौलिक सामाजिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु'—द्वि० सं०, १८८२ ई० माना जाता है, और प्रथम कहानी किशोरीलाल गोस्वामीकी 'इन्दुमती'—१९०० ई०)। मुख्यतः इन्हीं दोनों कारणोंके फलस्वरूप हिन्दीमें टॉल्सटॉय, डॉस्टॉएवस्की, डिकेन्स, हार्डी, मोपाँसाँ या स्टीफ़ेन ज़्विग जैसे कथाकारोंकी पीढ़ियाँ नहीं देखी जा सकतीं।' पाश्चात्य मनोविज्ञानके विकासका भी पूरा लाभ हिन्दी कथा-साहित्य नहीं उठा पाया। और इस प्रकार सामान्य घटनाओंकी सतहके नीचे जानेकी बात हमारे कथाकार अपेक्षाकृत कम सोच सके। नवीन संवेदनाओंको ठीकसे व्यक्त न कर सकनेवाली भाषा भी इस अवरोधका एक कारण रही है।

हिन्दीके प्रयोगवादी कथा-साहित्यकी पृष्ठभूमिमें थे जैनेन्द्र तथा इलाचन्द्र जोशी। यहाँ प्रयोगवादी कथा-साहित्यका अर्थ मात्र इतना लिया जा सकता है कि यह साहित्य प्रयोगवादके समसामयिकों तथा प्रवर्त्तकोंने लिखा था और परिमाणकी दृष्टिसे अत्यन्त सीमित था। 'तारसप्तक'के सात कवियोंमें-से उपन्यासकार केवल अज्ञेय हैं, और इनका 'शेखर : एक जीवनी' ही हिन्दी कथा-साहित्यका प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयोग माना जा सकता है। जैनेन्द्र तथा जोशीने अपने आपको परम्परासे कुछ अलग तो किया था, परन्तु किसी नवीन मार्गका अन्वेषण वे न कर पाये। अज्ञेयने कविताकी भाँति उपन्यासको भी एक साहसपूर्ण मोड़ दिया, यद्यपि समृद्ध परम्पराकी पृष्ठ-भूमिके अभावमें उनका यह प्रयोग बहुत सशक्त न था। 'ज्याँ क्रिस्तफ़'से पूर्वके कौन्टीनेण्टल कथा-साहित्य तथा 'शेखर'के पूर्वके हिन्दी कथा-साहित्यमें किसी प्रकारकी तुलना नहीं देखी जा सकती। और 'शेखर' भी जो अपने रूपमें लिखा जा सका, उसका प्रधान कारण यही था कि अज्ञेय अपनी संवेदनाको एक विस्तार दे सके थे। संवेदनाका यह विस्तार तबसे बराबर व्यापक होता गया है, और इसीलिए विभिन्न राष्ट्रोंकी विभिन्न परिस्थितियों-के होते हुए भी आज नवलेखनका आन्दोलन एक अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर देखा

जा सकता है। हिन्दीमें इस संवेदनात्मक विस्तारके आरम्भकर्त्ता थे इलाचन्द्र जोशी, यद्यपि उसकी सभी सम्भावनाओंको वास्तविक पूर्णता कुछ समय-बाद अज्ञेयके कृतित्वमें मिली।

अपनी अपूर्ण पृष्ठभूमिके कारण हिन्दीका नया-कथाकार एक अजब कठिनाईमें पड़ जाता है। एक ही कृतिमें वह कभी प्रेमचन्दकी ओर आकृष्ट होता है तो कभी जेम्स ज्वॉयसकी ओर। इन दोनोंके बीचका व्यवधान इतना अधिक है कि न तो वह उसे पाट सकता है, और न उनके बीच कोई सन्तुलन ही स्थापित कर पाता है। इस कशमकशका स्वभावतः परिणाम यही है कि वह अपने व्यक्तित्वको एक सुनिश्चित रूप देनेमें असफल रहता है। जिस प्रकारसे हिन्दीकी नयी कविताकी कुछ मौलिक प्रवृत्तियोंकी ओर संकेत किया जा सकता है, उस प्रकारसे हिन्दीके नये कथा-साहित्यमें किसी आधारभूत भाव-भूमिको नहीं देखा जा सकता। अधिक-से-अधिक यही कहा जा सकता है कि हिन्दीका नया कथा-साहित्य कुछ प्रयोगोंमें संलग्न है। यह प्रयोग 'सूरजका सातवाँ घोड़ा'के रूपमें भी हो सकता है, 'मैला आँचल'के रूपमें भी और 'बूँद और समुद्र'के बृहद् आकारमें भी। आंचलिकता, मुहल्लोंका जीवन, २४ घण्टोंमें कथानकको पूरा कर देना तथा प्रवाहवादी शिल्प-हिन्दी उपन्यासकी कुछ नयी दिशाएँ हैं, पर उनके लिए नहीं जो टॉमस हार्डी, डी० एच० लौरेन्स अथवा जेम्स ज्वॉयसको पढ़ चुके हैं। और इन उपन्यासोंका महत्त्व भी उनके अपने व्यक्तित्वके कारण अधिक है, नवीन प्रयोगोंकी दृष्टिसे उतना नहीं, क्योंकि ये प्रयोग बिना परम्पराकी पृष्ठभूमिके हैं।

आधुनिक हिन्दी उपन्यासमें कदाचित् सबसे असफल प्रयोग अज्ञेय द्वारा आयोजित 'बारहखम्भा' (१९५१–५२ ई०) था। 'तारसप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक'के वज़नपर अज्ञेय कथा-साहित्यमें भी कुछ नवीनता लानेकी सजग चेष्टामें थे। परन्तु एक सहस्र वर्षोंकी परम्परा तथा एक सौ वर्षोंके प्रारम्भ-में अन्तर है। 'बारहखम्भा'के बारह अध्याय जिनमें-से अन्तिम सम्भवतः

नहीं लिखा जा सका, अलग-अलग लेखकोंसे धारावाहिक क्रममें लिखवाये गये तथा उसी रूपसे मासिक 'प्रतीक' में प्रकाशित हुए थे। इस आयोजनके सहयोगियोंमें थे स्वतः अज्ञेय (जिन्होंने दो अध्याय लिखे), मन्मथनाथ गुप्त, विष्णु प्रभाकर, प्रभाकर माचवे, अमृतलाल नागर, भारतभूषण अग्रवाल, देवराज, धर्मवीर भारती, रांगेय राघव तथा रामचन्द्र तिवारी। अलग-अलग किश्तोंमें लिखे गये इस उपन्यासकी आज मात्र 'म्यूज़ियम वैल्यू' रह गई है। पर इससे यह अवश्य सिद्ध हो गया कि काव्यके समान ही अज्ञेय कथा-साहित्यमें भी जो सहसा क्रान्ति लाना चाहते थे, उसके लिए तत्कालीन हिन्दी कथा-साहित्य तैयार नहीं था। 'बारहखम्भा' मात्र एक असफल प्रयोगके रूपमें क्रमशः विस्मृत हो गया।

सामूहिक उपन्यास-लेखनकी आयोजना बनानेके पूर्व कथा-साहित्यके क्षेत्रमें अज्ञेय कई प्रकारके प्रयोग कर चुके थे। शिक्षा तथा संस्कृतिका आभिजात्य उनके कृतित्वका उस समय असाधारण गुण था। 'शेखर'के बाद 'नदीके द्वीप' तो इस आभिजात्यकी कहानी बनकर ही रह गया। 'शेखर' इससे हटकर भी बहुत-कुछ था। पर नयी दिशाओंके बावजूद 'शेखर' में ऐसा कुछ क्रान्तिकारी प्रयोग न था। वह आधुनिक हिन्दी-उपन्यासकी एक महत्त्वपूर्ण मंज़िल, या कहिए प्रारम्भ मात्र बन सका।

'शेखर' में जो अग्रणी संवेदना मिलती है, वह उसके तत्कालीन पाठकोंको कुछ अजब-सी लगी थी। पर आधुनिक जीवन-क्रमके सन्दर्भमें यह संवेदना अब कुछ सहज-स्वाभाविक बन गई है। 'शेखर' मानसिक विकासके स्तरोंकी कथा है, बाह्य जीवनसे तो उसकी असंगति अधिक ही दिखाई गई है। उत्तम पुरुषका महत्त्व तथा सार्थकता तथा अन्य पुरुषसे उसके एडजस्टमेण्टकी समस्या हिन्दीके इस प्रथम 'प्रयोगवादी' उपन्यासमें बड़े सशक्त ढंगसे उभरी है। 'शेखर' इस दृष्टिसे नवीन मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय अन्वेषणों और सिद्धान्तोंका प्रतीक है। अपनी प्रकृतिमें मध्ययुगीन समाज तथा आधुनिक संवेदनाओंका संघर्ष 'शेखर' के कथानक-

की मूल भाव-भूमि है। इस संघर्षमें व्यक्तिका निखार 'शेखर' के प्रस्तावित तृतीय भागके विना भी देखा जा सकता है।

'नदीके द्वीप' अज्ञेयका दूसरा उपन्यास है। वस्तुतः तो यह शेखरका ही परिशिष्ट है, प्रस्तावित तीसरा भाग है, पर अवश्य ही एक विशिष्ट सन्दर्भमें। शेखरका बहुमुखी जीवन, जो प्रारम्भसे एकान्तप्रिय है, 'नदीके द्वीप' में अपेक्षाकृत सीमित हो जाता है। शेखर तथा भुवनके व्यक्तित्वका विस्तार लेखक कथा-साहित्यके माध्यमसे नहीं कर सका। मानव व्यक्तित्वके मूलतः एकाकी तथा प्रतिभा-सम्पन्न होते हुए भी, उसकी अनिवार्य सामाजिक परिणतिकी बात अज्ञेय अपनी नवीन कवितामें कह सके हैं ('यह दीप अकेला, स्नेह-भरा है गर्वभरा मदमाता, पर इसको भी पंक्तिको दे दो')। सम्भव है कि कथाके नवीन तथा उपयुक्त उपकरणों और आयामोंको ढूँढ़ पानेपर वे अपने किसी आगामी उपन्यासमें मानवीय व्यक्तित्वके इस कथानकको आगे बढ़ा सकें।

अपने आपमें 'नदीके द्वीप' हिन्दी उपन्यासकी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, पर विकासकी मजबूत कड़ी नहीं। व्यक्तिका अस्तित्व और उसके सभी संवेदनात्मक खतरे अज्ञेयके इस दूसरे उपन्यासमें कुशलतासे चित्रित हुए हैं, पर उनका परिवेश नितान्त सीमित है। किन्तु यह भी नहीं माना जा सकता कि क्योंकि उपन्यासकारने 'नदीके द्वीप' में व्यक्तिके 'अनिवार्य प्रतिरोधी' समाजको कोई स्थान नहीं दिया, केवल इसीलिए वह असामाजिक हो गया है। 'नदीके द्वीप' विस्तृत कैनवैसपर अंकित किये जानेवाले मानव-जीवनके एक सीमित अंगका 'डिटेल' है। इस तथ्यको ध्यानमें न रख सकनेके कारण ही 'नदीके द्वीप' के दोनों वर्गोंके समीक्षकोंका परिप्रेक्ष्य प्रायः दूषित हो गया है। 'डिटेल' को ही पूर्ण चित्र मानना या दूसरी ओर यह आरोप लगाना कि 'डिटेल' ही क्यों है, समस्त चित्र क्यों नहीं है, आधुनिक साहित्य-चिन्तनमें हठवादिता मानी जायगी। मिश्रबन्धुओंके युगमें सूरकी एकान्तिकता और तुलसीकी लोक-कल्याणकी भावनाको अनि-

वार्यतः एक दूसरेका विरोधी मानकर एकसे दूसरेको महान् सिद्ध करनेकी प्रवृत्ति आज बीसवीं शतीके उत्तरार्द्धमें अवैज्ञानिक सिद्ध हो चुकी है।

हिन्दी नवलेखनके विशिष्ट सहयोगी धर्मवीर भारती भी कथा-साहित्यको मोड़ देनेमें अधिक सफल नहीं हो सके। उनकी बहुचर्चित कृति 'गुनाहोंका देवता' अपनी सारी लोकप्रियताके बावजूद नये कथा-साहित्यके विकासकी सीढ़ी नहीं मानी जा सकती। परम्परासे कुछ ऊपर उठकर वर्णनोंकी नवीनता तथा ताज़गी उसकी विशेषता है, पर किसी नयी दिशाका अन्वेषण इस कृतिमें नहीं है। कथा-साहित्यके सृजनके लिए जीवनके जिन विभिन्न तथा विरोधी स्तरोंकी जो प्रत्यक्ष जानकारी अपेक्षित होती है, वह हिन्दी कथाकारको बहुत कम मिल सकी है। यूरोप तथा अमेरिकाके औसत कलाकारको जीविकोपार्जनके जिन विभिन्न साधनोंको अपनाना पड़ता है अपनी संवेदनाके सूत्र भी वह वहींसे ग्रहण करता है। अख़बार बेचना, होटलकी बैरागीरी, लिफ़्ट चलाना, जूतोंके स्टोरमें क्लर्की जैसे व्यवसाय यूरोप तथा अमेरिकाके सामान्यजनोंको जीवनके विभिन्न पहलुओंकी जो झाँकी सहज ही दे देते हैं, वह भारतवर्षका नागरिक परम्परागत एक ही पेशेसे सम्बद्ध होनेके कारण या फिर बेकारीके कारण प्रायः नहीं प्राप्त कर पाता। यह सीमित दृष्टि विशेष रूपसे कथाकारके लिए विकासका मार्ग अवरुद्ध कर देती है। अमृतलाल नागरकी नवीन कृति 'बूँद और समुद्र' समाजके इस बहुमुखी रूपको प्रस्तुत करनेके लिए ही प्रसिद्ध है। पर यह उपन्यास भी सजीव चित्रोंका संकलन है; उन चित्रोंकी पारस्परिक संगतिको लेकर वह कोई अन्तर्दृष्टि नहीं दे पाता। सच तो यह है कि हिन्दी उपन्यासके समक्ष जितनी कम सम्भावनाएँ रही हैं, उतना ही खेदजनक उसका विकास रहा है। आजीविकाको प्राप्त करनेके संघर्षकी एकरसता उसमें है, पर जीविकाके विभिन्न साधनोंसे गृहीत जीवनकी विविधता उसमें नहीं है।

कथा-शिल्पीके व्यक्तित्वमें बाह्य जीवनसे जिस प्रकारकी सम्पृक्ति होनी चाहिए, वह सम्भवतः प्रेमचन्दके बादके हिन्दी उपन्यासकारोंमें कम हो

गई। अन्यथा देशके सामाजिक-राजनीतिक जीवनमें इतनी उथल-पुथल हो जानेपर भी कोई-न-कोई प्रथम श्रेणीका कथाकार उन घटनाओंको अपनी रचनाका उपजीव्य अवश्य बनाता। सन् बयालीसका आन्दोलन, साम्प्रदायिक दंगे, विस्थापितोंका पुनःस्थापन जैसी राष्ट्रीय घटनाएँ अथवा प्रयागमें माघ मेलेकी दुर्घटना और बंगालका अकाल जैसी क्षेत्रीय घटनाओंने अभी तक किसी विशिष्ट कथा-कृतिको जन्म नहीं दिया। फ्रांसकी राज्य क्रान्तिका जो एकान्त मानवीय रूप डिकेन्सकी 'टेल ऑफ़ टू सिटीज़' में द्रष्टव्य है अथवा नेपोलियनकी रूसपर चढ़ाईका जो संश्लिष्ट चित्र टॉल्सटायके 'वार एण्ड पीस' में मिलता है, वे कलाकारकी व्यक्तिगत अनुभूतियोंके व्यापक प्रसार हैं। प्रख्यात अमेरिकन उपन्यास 'गौन विद द विण्ड' में भी देशके गृह-युद्धकी व्यापक संवेदनाको व्यक्तिगत सन्दर्भमें रखा गया है। स्थान तथा कालके आयामोंमें विस्तृत इन घटनाओंको कुछ व्यक्तियोंके जीवन्में रखकर उनकी मानवीय व्याख्या करना सामान्यतः उपन्यासकारके लिए ही सम्भव है। किन्तु हिन्दी उपन्यास अपने इस दायित्वका निर्वहण नहीं कर सका।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमिमें हिन्दी कथा-साहित्यके नये उत्थानको अत्यन्त सहानुभूतिपूर्वक देखनेकी आवश्यकता है। क्योंकि यह नवोन्मेष संस्कारहीनोंका है। अज्ञेय (१९११ ई०) का 'शेखर : एक जीवनी' (प्रथम भाग—१९४१ ई०, द्वितीय भाग—१९४४ ई०) इस उत्थानका प्रथम परिचायक है। 'शेखर' ने हिन्दी उपन्यासकी सर्वथा नवीन सम्भावनाओंको छुआ। उपन्यासके भाव-बोध तथा शिल्प दोनों ही दृष्टियोंसे इस कृतिने पाठकों तथा समीक्षकोंमें एक नयी चेतनाका संचरण किया है। समाजकी विभिन्न भाव-भूमियोंसे सम्पर्कित होकर शेखरका व्यक्तित्व तथा उसकी एकान्त वेदना मानो चेतन तथा अर्द्धचेतन मनके विकासका आख्यान है। एक ओर अज्ञेयने सामान्यतः अस्पृश्य माने जानेवाले कथा-सूत्रोंको ग्रहण किया और दूसरी ओर उन्होंने उपन्यासके शिल्पको अत्यन्त उन्मुक्त रूप

दिया। इसके अतिरिक्त 'शेखर' की भाषा भी अपने आपमें एक उपलब्धि है। भाषाका इतना परिष्कृत तथा अर्थ-प्रवण रूप हिन्दीमें इसके पूर्व शायद ही देखा गया हो।

पर इतना सब होते हुए भी 'शेखर' में उस मूल तलप्रवाहिनी दृष्टिका अभाव है, जो सम्पूर्ण उपन्यास-साहित्यकी प्राथमिक आवश्यकता है चाहे वह नया हो अथवा पुराना। इस अर्थमें 'शेखर' में एक मौलिक उपन्यासत्व नहीं मिलता जो पुराने मास्टर्सकी कृतियोंमें प्राप्य है या जो और घनीभूत रूपमें आधुनिक उपन्यास, उदाहरणार्थ कामूँके 'द आउटसाइडर', में मिलता है। 'शेखर' जैसी ही स्थिति यूरोपियन कथा-साहित्यमें रोलांके 'ज्याँ क्रिस्तफ़' की भी है। दोनों कृतियोंमें एक मूल पात्रकी संगुम्फित कथा है, भाव-प्रवणता, कहानियत और चरित्र चित्रण है, पर वह केन्द्रीय 'विज़न' नहीं है, जो उपन्यास और उसके प्राचीनतर साहित्य-रूप महाकाव्यका प्राण-तत्त्व माना जाता है।

'शेखर' की विशिष्टता उपन्यास होनेमें भले ही न हो पर एक ऐसी कथा-कृति होनेमें अवश्य है, जिसने प्रथम बार हिन्दी कथा-साहित्यके पाठकको मानवीय स्तरपर एक संवेदनात्मक विस्तार दिया। परम्परागत साहित्यमें जो राष्ट्रीय दृष्टि अपने ऐतिहासिक विकासकी परिपूर्णताके बाद विकृतिको प्राप्त हो रही थी, उससे ऊपर उठकर 'शेखर' के कथाकारने मानव संघर्ष तथा नियतिकी एक ऐसी कहानी प्रस्तुत की, जिसका नायक अपने सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय परिवेशके साथ एक आधुनिक व्यक्ति है। शेखरके व्यक्तित्वके निर्माणमें भारत-यूरोपीय संस्कृतिका मुख्य हाथ है, और उसकी दृष्टि मूलतः और केवल मानवीय है, भारतीय नहीं। इसी अर्थमें 'शेखर' हिन्दीके नये कथा-साहित्यका प्रवेश-द्वार है।

'नदीके द्वीप' (१९५२ ई०), जो 'शेखर' के काफ़ी बादमें प्रकाशित हुआ, की भी स्थिति लगभग 'शेखर' जैसी ही है। उच्चस्तरीय व्यक्तियोंके बौद्धिक-सांस्कृतिक प्रेमसम्बन्धका यह घनीभूत आख्यान है, जो वयस्क

शेखरकी प्रणय-कथा कही जा सकती है। भाषा तथा शैलीकी प्रौढ़ता और सुरुचि इस कृतिकी एक-एक पंक्तिसे प्रकट होती है। एक सीमित क्षेत्रको लेनेपर भी यह 'शेखर'की अपेक्षा उपन्यास अधिक है, यद्यपि उसका आकार और विस्तार कथा-चयनके विपरीत है, अर्थात् आनुपातिक दृष्टिसे काफ़ी फैला हुआ है। 'नदीके द्वीप' इस अर्थमें आधुनिक अधिक है कि उसमें एक विशिष्ट संवेदनाको, जो यद्यपि बहुत सूक्ष्म तथा साधारण तो नहीं है, विस्तार मिला है। बौद्धिक दृष्टिकोण की वांछनीय प्रधानता भी इस कृतिमें देखी जा सकती है। पर न तो क्लैसिक उपन्यासकी भाँति उसमें कोई मौलिक 'विज़न' है और न आधुनिक उपन्यासकी भाँति उसमें मानवीय मूल्योंके प्रति चिन्ता (या जिसे यूरोपीय विवेचनकी भाषामें 'कन्सर्न' अथवा 'एंगेजमेंट' कहेंगे) की भावना है। एक सूक्ष्म और सामान्य संवेदना, उसका बौद्धिक और अपेक्षाकृत तटस्थ रागात्मक दृष्टिसे चित्रण तथा व्यापक सन्दर्भोंमें मानव-जीवनके प्रतिमानोंकी व्याख्या आधुनिक कथा-साहित्यकी प्रधान विशेषताएँ मानी जा सकती हैं। इनमेंसे अन्तिम उपन्यासके माध्यममें ही अधिक स्वाभाविक और सशक्त अभिव्यक्ति पा सकती है। अज्ञेयकी दूसरी कथाकृति इस दृष्टिसे आधुनिक उपन्यासके अधिक निकट मानी जा सकती है, यद्यपि संवेदनाकी सूक्ष्मता, तटस्थ दृष्टिकोण और मूल्यगत चिन्ताका उसमें अभाव है। भाषाके आभिजात्यकी दृष्टिसे 'नदीके द्वीप' का ऐतिहासिक तथा वस्तुगत महत्त्व है, जिसने नयी पीढ़ीके कई कथाकारोंको प्रभावित किया। रेखाके एबॉर्शनका दृश्य 'रोमांटिक एगॉनी' की दृष्टिसे स्मरणीय है, साथ ही उसका भाषा-शिल्प भी अद्वितीय है।

डॉ० देवराज (१९१७ ई०) के 'पथकी खोज' (१९५१ ई०) का कथानक शशि-शेखरकी संवेदनाको एक भिन्न स्तरपर आगे बढ़ाता है। चन्द्रनाथ और साधनाका सम्बन्ध अधिक यथार्थ और प्रगल्भ है। शैलीकी दृष्टिसे विशेष नवीनता न रखते हुए भी 'पथकी खोज' का कथानक नया

और साहसिक है। प्रणयकी एक अपवारित स्थितिके प्रायः सभी पक्षोंका अंकन इस उपन्यासमें हुआ है। देवराजकी इस प्रथम कथा-कृतिमें अज्ञेयके प्रणय सम्बन्धोंका आभिजात्य नहीं है, मध्यमवर्गकी बौद्धिकता है, जो साधन-हीनतासे आच्छादित रहती है। शेखर या भुवनको अपनी आजीविकाके लिएं भी कुछ करना पड़ता है या उनके कोई पारिवारिक दायित्व भी हैं, यह बहुत स्पष्ट नहीं हो पाता। परन्तु चन्द्रनाथका प्रणय जीवनके अन्य संघर्षोंके बीचमें है, और इसीलिए यथार्थके अधिक निकट है। देवराजकी इस समग्र अनुभूतिका उदाहरण उनका दूसरा अपेक्षाकृत छोटा उपन्यास 'बाहर-भीतर' (१९५४ ई०) भी है। शिल्पकी दृष्टिसे यह कथा-कृति 'पथकी खोज' से कहीं अधिक आगे है। उसका विधान परिष्कृत होनेके साथ नया अधिक है। समूचे उपन्यासमें नायककी अपनी भाभीके प्रति दमित मिथुन-भावना प्रधान होते हुए भी उसके जीवनके शेष संगत सन्दर्भ-को छोड़ नहीं दिया गया है। जिन सामाजिक-आर्थिक-व्यक्तिगत परिस्थि-तियोंके बीच नायक और उसकी सुमित्रा भाभीका अस्पष्ट, अनकहा और बहुत कुछ अर्द्ध-अनुभूत या अननुभूत स्नेह-सम्बन्ध विकसित होता है, उन्हें लेखकने मानवीय व्यक्तित्वकी पृष्ठभूमि नहीं वरन् अनिवार्य अंग माना है। किशोरावस्था और प्रथम यौवनकी मिथुन-भावनाका बड़ा मनोवैज्ञानिक रूप लेखकने 'बाहर-भीतर'के माध्यमसे प्रस्तुत किया है। जीवनके एक पक्षका मानसिक अन्वेषण और पुनरन्वेषण इस उपन्यासकी प्रमुख विशेषता है।

'रोड़े और पत्थर' (१९५८ ई०) देवराजका तीसरा उपन्यास है। इस लघु कथा-कृतिमें उपन्यासकारकी सर्वथा नवीन सम्भावनाएँ देखी जा सकती हैं। इस रचनामें न व्यक्तित्वकी अनथाही गहराइयाँ हैं, न सामा-जिक सन्दर्भोंकी बात उठाई गई है और न कोई शिल्पका ही क्रान्तिकारी प्रयोग है। पर इस सबके बावजूद इस कृतिमें एक स्पृहणीय ताज़गी है। मध्यवर्गीय जीवनमें केवल मकान बनानेकी प्रक्रिया किस प्रकार एक समग्र

अनुभूतिके रूपमें देखी जा सकती है, 'रोड़े और पत्थर' इसका अच्छा उदाहरण है। किसी प्रकारके संघर्षसे रहित इस उपन्यासका सामान्य और अकिंचन कथानक हिन्दीके नये कथा-साहित्यकी प्रगतिका सूचक है।

'तारसप्तक' के कवियोंमें जितने उपन्यासकार 'अज्ञेय' हैं, 'दूसरा-सप्तक' के कवियोंमें प्रायः उतने ही उपन्यासकार धर्मवीर भारती (१९२६ ई०) हैं। इस क्षेत्रमें उनके सहयोगीके रूपमें नरेश मेहता (१९२४ ई०) का नाम लिया जा सकता है। भारतीके दो उपन्यास 'गुनाहोंका देवता' (१९४९ ई०) तथा 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' (१९५२ ई०) प्रकृतिमें एक दूसरेसे काफ़ी भिन्न हैं। यह एक विचित्र तथ्य है कि शिल्प तथा भावगत कच्चेपनके बावजूद 'गुनाहोंका देवता' अपेक्षाकृत प्रौढ़ कृति 'सूरज-का सातवाँ घोड़ा' से कहीं अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। प्रथम यौवनका गद्दरपन और 'एडोलसेंस' उसमें विशेष रूपसे आस्वाद्य हैं और उसके पात्र चन्दर, सुधा या बिनती 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' मानिक मुल्ला या सत्तीसे कहीं अधिक मांसल तथा सजीव हैं। 'दूसरा सप्तक' तथा 'ठण्डा लोहा' का प्रमुखतः रोमांटिक कवि ही उपन्यासकारके रूपमें 'गुनाहोंका देवता' में आता है। पर इस युगके कृतित्वमें लेखककी एक विवश ईमानदारी सर्वत्र मिलती है, जिसके कारण उसकी 'एडोलसेंस' भी सुखद तथा अपेक्षाकृत स्थायी महत्त्वकी लगने लगती है। इस प्रसंगमें लेखकके सशक्त शिल्पका उल्लेख आवश्यक है, जिसके कारण उसके वर्णनोंमें कहीं तटस्थ शैथिल्य नहीं आने पाया है।

'गुनाहोंका देवता' प्रेमके एक सहज मानवीय रूपको प्रस्तुत करता है, जिसका समुचित वर्गीकरण हिन्दीके रीतिशास्त्रमें सम्भवतः नहीं हुआ है। इसीलिए आलोचक प्रायः उसे अनैतिक अथवा कुण्ठाग्रस्त कहने लगते हैं यही कठिनाई 'शेखर : एक जीवनी' में शेखर और शशिके प्रसंगको लेकर उठती है। भारतीय दृष्टिमें मनःस्थितियोंको विभिन्न खानोंमें रखकर देखनेका जो अभ्यास चला आया है, उससे साहित्य-समीक्षाको तो हानि

पहुँची ही है, सामान्य रसबोध भी विकृत हो गया है। समीक्षकके साथ पाठक भी यह जानना चाहता है कि अमुक कथाकृतिमें वर्णित प्रेम पति-पत्नीके बीचका है, प्रेमी-प्रेमिकाके बीचका है, या भाई-बहिनको लेकर है। इससे ऊपर उठकर प्रेमकी मौलिक प्रकृति भी कुछ है, जो इस दृष्टिसे 'अस्पष्ट' भले ही हो पर वास्तविक है, यह माननेको समीक्षक उद्यत नहीं। उन्मुक्त तथा सहज प्रेम या सख्य दो प्राणियोंमें हो सकता है, इस मौलिक सत्यको वे नहीं देख पाते। उनका आग्रह सदैव इस बातपर रहेगा कि प्रेम या तो वात्सल्यके अन्तर्गत है, या शृंगारके या फिर भक्तिके; इन परम्परागत विभाजनोंमें जो स्थितियाँ नहीं रक्खी जा सकतीं वे निश्चय ही अनैतिक हैं, अतः साहित्यमें चित्रणके योग्य नहीं।

हिन्दीके नये कथा-साहित्य ['शेखर : एक जीवनी'—अज्ञेय, 'गुनाहोंका देवता'—धर्मवीर भारती, 'पथकी खोज'—देवराज, 'तन्तुजाल'—रघुवंश] में इन अपेक्षाकृत नयी तथा उलझी संवेदनाओंका जो चित्रण हुआ है, वह मूलतः मानवीय है। यही मुख्य कारण है जिससे 'गुनाहोंका देवता' नयी पीढ़ीके पाठकोंके निकट इतना अधिक प्रिय बन सका। 'शेखर' का लेखक अपेक्षाकृत परिपक्व था, कदाचित् इसीलिए नैतिक मानदण्डोंपर उसकी विशेष परीक्षा हुई। 'गुनाहोंका देवता' एक युवा कथाकारकी कृति होनेके कारण स्वभावतः ही पूर्व-नैतिक मान लिया गया। इस दृष्टिसे हिन्दीके 'सजग' समीक्षकने 'शेखर' को तो एक कुण्ठाके रूपमें देखा, पर चन्दरका व्यक्तित्व उसे सहज लगा। 'गुनाहोंका देवता' कथा कृतिके रूपमें अप्रौढ़ होनेपर भी सख्यका प्रियतर आख्यान है। यहाँ स्मरणीय है कि कृष्ण और कृष्णाका सहज स्नेह-सम्बन्ध पुराणकारों अथवा उत्तरकालीन नीतिशास्त्रियों-की दृष्टिमें कभी आलोच्य नहीं रहा; फिर वही मानवीय आसक्ति आज नैतिक भाव-भूमिसे गिरी क्यों मानी जाती है?

'सूरजका सातवाँ घोड़ा' कई अर्थोंमें प्रयोगवादी कृति है, पर उसकी भाव-प्रवणता कम है, शायद इसीलिए कि वह प्रधानतः एक प्रयोग है।

अपनी प्रकृतिके अनुसार इस कथा कृतिके कोई चरित्र उभरकर सामने नहीं आते। विभिन्न चरित्रोंकी एक पंक्ति हमारे सामने है, पर उनमेंसे स्मरणीय कोई भी नहीं बन पाता। भाव-योजना अधिक सन्तुलित तथा प्रौढ़ है। पर समूचे कथा-शिल्पके सामने कोई दिशा नहीं है। कदाचित् यही कारण है जिससे 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' के बाद इतने लम्बे व्यवधानमें भारती कोई नवीन कथाकृति नहीं दे पाये। कथाकार इस कृतिके साथ मानो किसी अन्धी गलीमें जा पड़ा हो, जिससे बाहर निकलनेका कोई मार्ग नहीं दिखाई देता। 'बारह खम्भा' के समान 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' भी एक ऐसा प्रयोग है जो विकासके मार्गको प्रशस्त नहीं कर सका।

भारतीके कथा-शिल्पमें वर्णनोंकी ताज़गी विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनकी रोमाण्टिक स्थितियाँ भी अपने आपमें नयी हैं। इसीलिए उत्तर रोमाण्टिसिज़्मके साथ बँधे हुए पानीका-सा जो आभास मिलने लगता है वह भारतीकी कृतियोंमें नहीं दिखाई देता। 'गुनाहोंका देवता' अथवा 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' का रोमाण्टिसिज़्म अपने विकासकी प्रारम्भिक अवस्थाका है, -जिसमें बँधे-बँधाये मानदण्डोंके खिलाफ़ स्वस्थ तथा सबल विद्रोह है; इसीलिए उसकी मूल प्रकृति इलाहाबाद नगरके उस सवेरे जैसी ताज़ी तथा खुशनुमा है, जिसका अत्यन्त चित्रात्मक वर्णन लेखकने 'गुनाहोंका देवता'के प्रारम्भमें किया है। भारतीकी रोमाण्टिक दृष्टिमें अंग्रेज़ी, उर्दू तथा हिन्दीकी स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्तियोंका सुखद सामंजस्य हुआ है, जो उतनी आधुनिक भले ही न हो, परन्तु सामान्यतः आकर्षक तथा प्रिय अवश्य है।

नरेश मेहताके 'डूबते मस्तूल' (१९५४ ई०) का रोमाण्टिसिज़्म भिन्न कोटिका है। इस उपन्यासकी समूची भाव-भूमि 'रोमाण्टिक एगॉनी' के वर्गकी है, और इसीलिए उसकी रोमाण्टिसिज़्म प्रायः मेडीइवल ढंगकी है, कुछ वैसी ही जैसी किसी समुद्रके किनारे बने किसी पुराने क़िलेको देखकर अनुभूत होती है। शायद इतनी पुरानी होनेके कारण ही वह कुछ नयी लग सकती है। सीमाप्रान्तसे लेकर लखनऊ (हॉलैंड होते हुए) तक चलने-

वाली इस कथा-कृतिमें एक अत्यन्त आधुनिकाका ज़बरन पकड़कर ले जाया जाना कदाचित् पहिली बार देखनेको मिलता है। हिन्दीमें इस प्रकारके बहुत-से कथा-अभिप्राय हैं, पर वे अधिकतर प्रेमचन्द तथा उनके पूर्ववर्ती कथा-साहित्यमें द्रष्टव्य हैं। किन्तु उनमें भी पकड़कर ले जाई गई स्त्रियाँ अधिकतर मध्यमवर्गकी अशिक्षित तथा अपने अधिकारोंसे अनभिज्ञ कुमारियाँ होती थीं। बीसवीं शतीमें प्रतिष्ठित कथानकमें इस प्रकारका ख़ौफ़नाक वर्णन कालगत वैषम्यकी दृष्टिसे भी कुछ रोमाण्टिक लगने लगता है।

'डूबते मस्तूल'में इस पुरानी-नयी रोमाण्टिसिज़्मके अतिरिक्त कई अन्य विशेषताएँ भी हैं। पुराने-नये शिल्पका रोमाण्टिसिज़्म भारतीके 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' जैसा नहीं है। नरेश मेहताका कथा-शिल्प अधुनातन है। २४ घण्टेसे कममें भी कथानकको समाप्त कर देनेवाली कथामें एक स्त्रीका आठ पुरुषोंकी पत्नी या प्रणयिनी बनना कुछ कम नया नहीं है। फिर भाषा तथा मुहावरे सम्बन्धी कुछ नये प्रयत्न हैं। कथानकके अन्तका 'ओहैनरियन' टेकनीक ध्यान आकृष्ट करनेवाला है। रंग तथा रूपके सम्बन्धमें परम्परागत कुण्ठाओंसे विहीन कथाकारकी सहज दृष्टि भी असाधारण है। इसीलिए कुल मिलाकर एक अव्यवस्थित कथाकृति होनेपर भी 'डूबते मस्तूल' का नये हिन्दी कथा-साहित्यमें एक विशेष महत्त्व है, क्योंकि महत्त्व उपलब्धिका ही नहीं प्रयोगका भी होता है, शायद कुछ अधिक ही, पर सामान्यतः अज्ञात और अपरिचित रह जानेवाला।

अभिव्यक्तिकी कठिनाईका अनुभव करके नरेश मेहताने बोलियों तथा प्रान्तीय भाषाओंके जो प्रयोग स्वीकार करने चाहे हैं, वे कवितामें भले ही सफल न हो सके हों, उपन्यासके संवादोंमें अवश्य ही अपेक्षाकृत स्वाभाविक तथा भाव-व्यंजक लगते हैं। यह शायद इसलिए है कि गद्यमें भाषाका परिष्करण अधिक आसानीसे हो पाता है। सप्तमी अथवा नामधातुके प्रयोग सर्वत्र सहज न लगें, पर कुछ स्थलोंपर उनकी सफलता निर्विवाद है। 'डूबते मस्तूल'की सीमाप्रान्ती-बंगाली नायिका (तुलनीय 'नदीके द्वीप'की कश्मीरी-

बंगाली रेखा) के लहजेमें ये प्रयोग चारित्रिक विशेषताकी दृष्टिसे भी खप जाते हैं। आधुनिक भाव-भूमि तथा नवीन संवेदनोंको व्यक्त करनेके लिए नये शब्द-प्रयोग भी उपन्यासकारको ही बनाने होंगे, कोशकार या भाषा-वैज्ञानिकको नहीं। इसीलिए 'डूबते मस्तूल' की भाषा आधुनिकताको वहन करनेमें समर्थ है।

दिनकी एक सीमित अवधिमें कथानकको समाप्त कर देनेका टेकनीक मुख्यतः यूरोपके प्रवाहवादी कथा-शिल्पकी विशेषता रही है, जो सम्भवतः क्लैसिक उपन्यासमें अवधिके लम्बे विस्तारकी प्रतिक्रियामें विकसित हुआ होगा। हिन्दीमें जो इस प्रकारके दो-एक उपन्यास लिखे गये हैं, उनमें घटनाएँ २४ घण्टेकी न होकर कथानककी परिसमाप्ति २४ घण्टेमें हो जाती है। रघुवंशका 'तन्तुजाल' या नरेश मेहताका 'डूबते मस्तूल' इस प्रवृत्तिके उदाहरण हैं। इन कथा-कृतियोंमें 'फ़्लैश बैक' अथवा 'नैरेशन' द्वारा प्रमुख पात्रके पिछले जीवनकी बहुत-सी महत्त्वपूर्ण घटनाओंको प्रस्तुत किया गया है। शिल्पकी इस पद्धतिकी अपनी विशेषताएँ तथा सीमाएँ हैं। पर अपेक्षाकृत सशक्त होनेपर भी इस शैलीमें संवेदना उतनी घनीभूत नहीं रहती जितनी कथा-शिल्पके उस प्रकारमें होती है, जिसमें कथानकके २४ घण्टोंका प्रयोग केवल वर्त्तमानको चित्रित करनेके लिए होता है; फ़्लेशबैकके सहारे अतीतको पुनर्जागृत नहीं किया जाता। हिन्दीमें गिरिधरगोपालके 'चाँदनीके खँडहर' में इस शिल्पका निर्वाह विशेष सफलतापूर्वक हुआ है। 'डूबते मस्तूल' में भी वर्त्तमानको चित्रित करनेवाले कथा-खण्ड अधिक सशक्त तथा प्राणवान् बन सके हैं। पर उपन्यासका अन्त पाठकको जीवन अथवा कलाके किसी स्तरपर सन्तुष्ट नहीं कर पाता।

नारीके रूप-सौन्दर्यको सहज तथा उन्मुक्त ढंगसे देखनेकी पद्धति 'डूबते मस्तूल' की अपनी निजी विशेषता है। आधुनिक कथा-साहित्यमें प्रेमका सहज तथा मानवीय चित्रण इसके पूर्व भी ('शेखर : एक जीवनी', 'गुनाहोंका देवता') हो चुका था, पर नारीके उद्दाम रूप-यौवनकी कुण्ठा-रहित सराहना

इस कृतिमें कदाचित् प्रथम बार मिलती है। "शरीरको निस्सार कहनेवाले यदि इस तरह बँधे हुए उरोज देख पाते तो मेरा निश्चय है कि वे....मगर मैं महसूस करता हूँ कि मुझे तो उन लोगोंसे कुछ नहीं कहना है" यहाँ कुछ न कहकर भी उपन्यासकारने बहुत कुछ कह दिया है। मानवीय सभ्यता तथा संस्कृतिके कुण्ठा तथा वर्जना विहीन जिस प्रारम्भिक विधानके चित्र लेखकने अपनी कविताओंमें प्रस्तुत किये हैं, उन्हींकी प्रतिध्वनि नारीके इस स्वच्छ, तरल सौन्दर्यांकनमें है। प्रकृतिके जड़ तथा चेतन दोनों रूपोंका चित्रण कथाकारने उस रागात्मक तटस्थताके साथ किया है, जो आधुनिक कथा-शिल्पकी एक अनिवार्यता हो गई है। 'डूबते मस्तूल' के ये सौन्दर्य-चित्र नवलेखनकी अपनी प्रकृतिके अनुकूल हैं। सौन्दर्यमें डूब जाने या बह जानेकी रीतिकालीन पद्धतिके स्थानपर उसकी उन्मुक्त सराहना अधिक स्वस्थ तथा अधिक नैतिक दृष्टि है, क्योंकि वह किसी रागात्मक कुण्ठाको जन्म नहीं दे पाती।

नये कथा साहित्यकी सफल कृतियोंमें लक्ष्मीनारायणलाल (१९२७ई०) के उपन्यास 'काले फूलका पौदा' (१९५५ ई०) का स्थान विशिष्ट है। संस्कारों तथा संस्कृतियोंका संघर्ष कथानकका प्रधान उपजीव्य है। आधुनिक जीवनकी पारिवारिक अव्यवस्था और असन्तुलनकी यह कथा शरत्के 'नवविधान' की परम्परामें होते हुए भी युगके नये सन्दर्भोंसे संपृक्त है। विरोधी संस्कृतियोंके असामञ्जस्यमें जीवन कितना खोखला तथा आस्थाहीन हो जाता है, इसका यथार्थ चित्र प्रस्तुत करनेके साथ-साथ मानव व्यक्तित्वमें आस्थाका प्रश्न भी उपन्यासकारने उठाया है। देवन, गीता और चित्राके चरित्रोंकी पारस्परिक संगति उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने उनके अलग-अलग चरित्र। मानव-जीवन उपन्यासमें सदैव अपनी समग्रतामें गृहीत होता आया है। आधुनिक उपन्यासकी विशेषता यह है कि वह अपने अपेक्षाकृत संक्षिप्त कलेवरमें भी जीवनको उतने ही व्यापक रूपमें स्वीकार करता है जितना कि १९वीं शतीके वृहदाकार क्लैसिक कृतियोंमें चित्रित हुआ है। इसका

प्रधान कारण यह है कि नये उपन्यासमें घटनाओंकी महत्ता न होकर उन घटनाओं द्वारा विकसित स्थितियोंके अंकनकी महत्ता है। चित्रणकी दृष्टिसे घटनाएँ साध्य न होकर साधन बन गई हैं। 'काले फूलका पौदा' जीवनकी व्यापकताको कई सन्दर्भोंमें प्रस्तुत करते हुए भी आकारकी दृष्टिसे बड़ा नहीं है। आधुनिक कथा-शिल्पमें जीवनकी सम्पूर्णता उसे फैलानेमें न होकर संगततम स्थितियोंके चयनमें है। साथ ही ये स्थितियाँ अपने-आपमें बड़ी तथा महान् हों, यह भी आवश्यक नहीं। कालकी समग्रता अनुभूतिकी सम्पूर्णतामें है। इसीलिए छोटासे-छोटा क्षण भी महत्त्वपूर्ण है, यदि वह किसी समग्र अनुभूतिको आत्मसात् करानेमें सहायक है। यहीं घटनासे अधिक महत्त्व उसके संघातका है। कथा-शिल्पके इस आन्तरिक परिवर्त्तनके ही कारण एल्बर्ट कामूँकी कृति 'द आउटसाइडर' प्रायः सवा सौ पृष्ठोंमें पूरी हो जानेपर भी एक उपन्यास है 'लघु उपन्यास' या बड़ी कहानी नहीं। कैन्वासकी व्यापकताका अनुभव उसमें अनुभूतियोंकी समग्रता-के माध्यमसे होता है, घटना या स्थितियोंके विस्तारसे नहीं। दूसरी ओर, दृष्टिकी सम्पूर्णता इस सीमित आकारमें अधिक आ सकी है। इस प्रसंगमें यह स्मरणीय है कि अनुभूतिकी समग्रता उसकी तीव्रतासे भिन्न है; पहली उपन्यासकी विशेषता है तो दूसरी कविता की।

'काले फूलका पौदा' को जब नवलेखनके महत्त्वपूर्ण उपन्यासोंमें कहा गया तो उसका भाव यही है कि वह एक सफल कथाकृति है और साथ ही आधुनिक अर्थमें उपन्यास है, आकारकी दृष्टिसे भी और आन्तरिक शिल्पकी दृष्टिसे भी। प्रयोगकी अवस्थामें सफलता सन्दिग्ध रहती है। पर लक्ष्मीनारायणलालकी यह कृति प्रयोग भी है और सफल भी, जो निश्चय ही नवलेखनकी एक उपलब्धि है। यह दूसरी बात है कि उसे बहुत साह-सिक प्रयोग न माना जा सके। पर जैसा कि पहले ही कहा गया हिन्दी उपन्यासमें प्रयोग अपेक्षाकृत सीमित दृष्टिसे सम्भव भी हैं। 'काले फूलका पौदा' उतनी ही हद तक प्रयोग है जितना कि हिन्दी उपन्यासके संक्षिप्त

इतिहासकी पृष्ठभूमिमें सम्भव हो सकता था। विकासकी भूमिकामें संपृक्त होनेके कारण लक्ष्मीनारायणलालकी यह कृति नये हिन्दी उपन्यासकी एक दिशा मानी जा सकती है।

कुछ कथाकृतियोंके समग्र वातावरण स्मरणीय रहते हैं। हिन्दीमें 'नदीके द्वीप'में आभिजात्यका वातावरण, 'गुनाहोंका देवता'में एडोलसेंसका वातावरण, अमृतलाल नागरके 'बूंद और समुद्र'में मुहल्लोंकी अनौपचारिकताका वातावरण, या फिर कामूके उपन्यास 'द आउटसाइडर'में तीखेपनका वातावरण और हेमिंग्वेके 'फॉर हूम द बैल टोल्स'में युद्धके असंयमका वातावरण—ये सब मानो इन उपन्यासोंके चरित्रांकन या रचनादृष्टिसे अलग अपने आपमें अनुभूतिके विषय हैं। इन वातावरणोंकी याद पाठकको बराबर बनी रहती है भले ही वह उन उपन्यासोंके प्रधान पात्रों तकको भूल जाये। यह वातावरण उस तत्त्वसे भिन्न है जिसे हम 'वातावरण प्रधान कहानी'में देखते हैं। उपर्युक्त उपन्यासोंमें यह वातावरण उस कृतिका अनिवार्य व्यक्तित्व जैसा है, जो उनपर ऊपरसे आरोपित नहीं किया गया वरन् उसीकी समग्रतामेंसे उभरता है। सच तो यह है कि उपन्यासका यह व्यक्तित्व किसी हद तक रचनाकारके कथा-गठनकी सफलताका परिचायक है, और मूलतः कृतिकी रचना-दृष्टिसे सम्बद्ध है।

'काले फूलका पौदा'का वातावरण भद्रताका है। समूचे उपन्यासमें मनोवैज्ञानिक संघर्षोंके बावजूद एक शान्तिकी अवस्थिति है, जो कथाकृतिमें तुलसीके पौदेके प्रतीक रूपमें प्रतिष्ठित है। यह भद्र वातावरण आधुनिक युगके सन्दर्भसे बहुत संपृक्त नहीं लगता, यद्यपि अपनी विरलताके कारण नया अवश्य जान पड़ता है। शान्तिके स्थानपर विक्षुब्ध शान्तिका वातावरण आजके जीवनके अधिक निकट है। पर दूसरी ओर यह भद्रता अपनी प्रकृतिमें छायावादी भी नहीं है, क्योंकि यह मूलतः संघर्षोंमेंसे विकसित हुई है। पूरे उपन्यासमें बल भारतीय संस्कृतिकी वकालतपर न होकर सांस्कृतिक तत्त्वोंके सामंजस्यपर है। आधुनिक जीवनमें जिस

प्रकार विशुद्ध भारतीय जीवनका पुनरुत्थान सत्य नहीं है, उसी प्रकार पाश्चात्य संस्कृतिका आरोप भी संगत नहीं है, क्योंकि वह आरोप जीवनके रेशोंमें नहीं प्रवेश कर सकता। संस्कृति एक सतत विकासमान तत्त्व है। इन विकासोंको अस्वीकार करना प्रतिक्रियावादी दृष्टि है। 'काले फूल का पौदा' इन विकासोंको स्वीकार करता है, और उसकी यह प्रगतिशील दृष्टि ही किसी हद तक समूची कृतिके भद्र वातावरणका कारण है।

अमृतराय (१९२१ ई०) का 'नागफनीका देश' दाम्पत्य जीवनके विघटनका आख्यान है। भावनाओंकी दृष्टिसे घनीभूत होनेपर भी कथानककी संगति कथा-कृतिमें स्पष्ट नहीं हो सकी है। उपन्यासका अधिकांश चिंतनमें है, और उसके माध्यमसे मुख्यतः भावात्मक असामंजस्यको विकसित करनेकी चेष्टा की गई है। पर वह असामंजस्य स्पष्ट नहीं हो सका है। यों, इस छोटेसे उपन्यासका विक्षुब्ध वातावरण भुलाया नहीं जा सकता।

'चाँदनीके खँडहर' (१९५४ई०) गिरिधरगोपाल (१९२६ई०) का प्रथम तथा अब तकका अन्तिम उपन्यास है। इस कथा-कृतिमें संपूर्ण जीवनके असामंजस्यका चित्रण हुआ है, जिसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह यथार्थवादी न होकर यथार्थ है। शिल्पकी दृष्टिसे २४ घण्टोंमें सीमित कथानकको लिया गया है। पर यह इस शिल्पका वास्तविक नमूना है, जिसमें इतनी संक्षिप्त अवधिका प्रत्येक संगत क्षण अंकन पा सका है। कथानकके अनुरूप ही उपन्यासका वातावरण घनीभूत है। आधुनिक युगमें मध्यमवर्गीय प्रेम किन विषम परिस्थितियोंमें चलता है, इसका सहज तथा उन्मुक्त रूप 'चाँदनीके खँडहर' में देखनेको मिलता है। कथानक, पात्र तथा भाषा सभी एकदम सामान्य जीवनसे लिये गये हैं। उपन्यासका नायक वसंत अपनी सारी सहजधर्मिताके साथ इस शतीका वास्तविक 'हीरो' है। पर उसके चरित्रकी भी सबसे बड़ी विशेषता उसकी भद्रता है, जो समस्त कथानकपर छाई हुई है। 'काले फूलका पौदा'की गीताके समान ही 'चाँदनीके खँडहर'के बसंतकी जड़ें सुगठित परिवारकी आत्मीयतामें हैं। इसीलिए जीवनकी सारी कटुता

और तिक्तताके बावजूद वे अपनी भद्रता नहीं खोते। आधुनिक-यूरोपीय कथा-साहित्यमें जिस संघर्ष तथा तनावका चित्रण है उसके मूलमें परिवार-का विघटन एक प्रधान कारण है। इस विघटित परिवारकी मानवीय असंपृक्तिका सबसे सशक्त उदाहरण कामूके 'द आउटसाइडर' में मिलता है, जिसका नायक अपनी माँके शवके पास बैठकर चाहते हुए भी नहीं रो पाता। व्यक्तित्वके इस निपट एकाकीपनकी भयानकताका अनुभव कामूका पाठक बराबर करता है। आधुनिक जीवन-पद्धतिके एक बड़े खतरेकी ओर जिस ढंगसे उसने हमारा ध्यान आकर्षित किया है, वह स्वतः बहुत निरापद नहीं, क्योंकि कलात्मक संकेत प्रायः दुधारी तलवारका कार्य कर सकते हैं।

ह्रासोन्मुखता तथा विघटनके आधुनिक वातावरणमें वसंत आस्थाका प्रतीक है। ऐसी आस्था, जो मात्र उत्साह नहीं है, जो ऊपरसे आरोपित नहीं, वरन् संकटकी सतत अनुभूतिसे जिसका उदय हुआ है। यह एक विलक्षण सत्य है कि गिरिधरका सारा रोमांटिसिज़्म, और निराशावाद जो उनके गीतोंकी एक प्रमुख विशेषता थी, इस उपन्यासमें एक सक्षम तथा स्वच्छ साहचर्यके रूपमें परिणत हो गया है। उपन्यासका शीर्षक ('चाँदनीके खँडहर') तक उनके काव्यकी परंपरामें हैं, पर समूची कथाकृति मानवकी जिजीविषा और उसके संघर्षका चित्रण है। शिल्पकी दृष्टिसे भी गिरिधर-का उपन्यासकार उनके कविकी अपेक्षा कहीं अधिक आधुनिक है।

नये कथा साहित्यके अन्तर्गत गिने जानेवाले उपन्यासोंमें कुछकी प्रकृति स्थानीय है। इन्हें आंचलिक, सबर्बन या मुहल्लोंको चित्रित करनेवाला कहा गया है। इनमेंसे भी आंचलिकताका तत्त्व अपेक्षाकृत प्रबल रहा है, जो पहले तो एक स्वस्थ प्रवृत्तिके रूपमें प्रारंभ हुआ पर बादमें जिसकी परिणति धीरे-धीरे एक फ़ैशनके रूपमें होने लगी। उपन्यास और कहानी दोनोंमें यह ग्रस्मोन्मुखता अब एक मैनरिज़्मके रूपमें विकसित हो चली है।

हिन्दीके नये उपन्यासोंमें आंचलिकताका प्रारंभ फणीश्वरनाथ 'रेणु' (१९२१ ई०) के 'मैला आँचल' (१९५४ ई०) से होता है, जो अपने

आपमें एक प्रयोग होनेके साथ-साथ इस युगकी सफलतम कथाकृतियोंमेंसे हैं। उपन्यासका प्रयोग उतना ही सशक्त तथा नया है, जितनी गहरी उसकी दृष्टि है। प्रयोग तथा उपलब्धिका विशिष्ट सामंजस्य इस रचनामें देखा जा सकता है।

'मैला आँचल' के माध्यमसे गांधीवादी और कांग्रेस आन्दोलनका प्रथम वार मानवीय पृष्ठभूमिमें अध्ययन हुआ है। नैतिकता तथा उच्च आदर्शों-की दुहाई देनेवाले इस आन्दोलनका यथार्थ उद्घाटित करके उपन्यासकारने एक समसामयिक जीवन-पद्धति तथा राजनीतिकी कलात्मक विवेचना की है। इसीलिए 'रेणु' की इस कृतिका मूल्य कई स्तरोंपर है। वर्त्तमान ग्रामीण राजनीति, उसकी खोखली नेतागीरी, समस्त प्रतिक्रियावादी शक्तियोंका प्रच्छन्न रूपमें कांग्रेसके आन्दोलनसे मिल जाना और अशिक्षाके वातावरणमें जनतंत्रात्मक पद्धतियोंका शिक्षण—इन सबको मिलाकर हमारे आधुनिक जीवनके रेशोंका अत्यन्त संवेदनशील अध्ययन 'मैला आँचल'में मिलता है। उसका शिल्प भी नये विकासोंके अनुकूल है; 'रेणु' का यह उपन्यास नायक विहीन है। समस्त जन-जीवन ही सामूहिक रूपसे उपन्यासका नायक है। इस लोक-सम्पृक्तिकी दृष्टिसे 'मैला आँचल' युगके सफल कथा-प्रयोगोंमें है। शिल्प तथा 'कंटेंट' दोनों दृष्टियोंसे यह कृति एक बदलते हुए समाजका सम्पूर्ण अनुभावन है। इसीलिए ऊपरसे प्रायः असम्बद्ध चरित्रोंकी कथा होते हुए भी 'मैला आँचल' अपने आपमें एक समग्र अनुभूति है।

नये कथा-साहित्यकी प्रकृति अपेक्षाकृत तीखे चरित्र-चित्रणसे सम्बद्ध है। सैटायरके माध्यमसे समाजकी अव्यवस्थाकी ओर संकेत हमें नयी कवितामें भी मिलते हैं। यह प्रवृत्ति लेखकके मनके असन्तोष तथा खीजकी उपज है। कलात्मक संघटनके लिए नये साहित्य-शिल्पका यह सबसे बड़ा 'सेफ़्टी वाल्व' है। 'मैला आँचल' का प्रमुख कथा भाग सन् बयालीसके आन्दोलनकी कुछ अस्वस्थ दिशाओंपर ऐसा ही सैटायर है। बिना किसी पक्षधरताके इस सैटायरका कलात्मक मूल्य होनेके साथ-साथ विचारात्मक

मूल्य भी है। राजनीतिके स्तरोंका स्पर्श करते हुए 'मैला आँचल' के लेखकने पक्षधरताको स्वीकार नहीं किया है, यह इस कृतिकी दूसरी प्रमुख विशेषता है। उपन्यासमें जिस हद तक भी राजनीति है, वह दलगत न होकर मानवतावादी है। और इस प्रकारके राजनीतिक मूल्योंकी स्थापना नयें साहित्यकी एक नव-विकसित प्रवृत्ति है। समन्वयवादके सुनहले नियमको छोड़कर आजका लेखक समसामयिक राजनीतिके सम्बन्धमें अपना सुस्पष्ट मत व्यक्त करता है।

'मैला आँचल' की आंचलिकता इसलिए सार्थक है क्योंकि वह जीवंत है। सामान्य और अकिंचन घटनाओंका इतना अन्तर्दृष्टिपूर्ण वर्णन हिन्दीके कथा-साहित्यमें कम ही मिलता है। चरित्रगत शिल्पकी दृष्टिसे उसके प्रत्येक पात्रका महत्त्व है। साथ ही वह कुछ सफल चरित्रोंका ऐॅल्बम भी नहीं है, जैसा कुछ समीक्षकोंने माना है। आंचलिक उपन्यासकी यह प्रकृतिगत विशेषता और इसीलिए सफलता भी है, कि उसमें किसी चरित्रको आपेक्षिक प्रधानता न होकर समस्त अंचलके एक संघटित जीवनका अंकन होता है। इस दृष्टिसे 'मैला आँचल' की सफलता स्पृहणीय रही है।

अपनी प्रथम कृतिकी सफलतासे प्रेरित होकर 'रेणु'ने 'परती परिकथा' (१९५७ ई०) लिखी। पर इस दूसरी रचनामें लेखककी आंचलिकता उतने जीवंत रूपमें प्रकट न हो सकी। 'मैला आँचल' के जो तत्त्व पाठकको नये तथा ताज़े लगे थे वे ही एक फ़ैशनके रूपमें गृहीत होनेके कारण 'परती परिकथा' में उबा देनेवाले हो गये हैं। पर इस सबके बावजूद लेखककी अन्तर्दृष्टि जहाँ-जहाँ उभरी है, वहाँ कथाकी रसमयता 'मैला आँचल' का अवसादपूर्ण स्मरण दिला देती है। 'रेणु' के इस दूसरे उपन्यासका शिल्प कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। अतीत और वर्त्तमानकी सीमाओंको न स्वीकार करते हुए उपन्यासकारने अपने शिल्पमें चारित्रिक संवेदनाकी संवद्धताको प्रधानता दी है। राजकीय योजनाओंका सहानुभूतिपूर्ण अंकन भी इस कथा-कृतिकी एक अन्य विशेषता है—इस अर्थमें कि योजनाको

उपन्यासमें मानवीय दृष्टिसे देखा गया है दलगत राजनीति अथवा आर्थिक दृष्टिसे नहीं।

'परती परिकथा' की सबसे बड़ी कमी उसका उलझा हुआ चरित्र-चित्रण है। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो ताजमनीको छोड़कर उपन्यासके अन्य पात्रोंमें चारित्रिक संवेदनाका अभाव है, और दूसरे अतीत तथा वर्त्तमानको कथाकी पट-भूमिमें एक साथ रखनेकी वजहसे पात्रोंका मनोविज्ञान तथा सामाजिक परिस्थितियाँ एक दूसरेसे बुरी तरह उलझ गई हैं। ऐसा नहीं कि यह इस प्रकारके कथा-शिल्पका स्वभावगत दोष है। बँगलाके प्रसिद्ध उपन्यासकार ताराशंकर बनर्जीने अपने 'आरोग्य निकेतन' में शिल्पकी इस पद्धतिको बड़े सक्षम रूपसे निभाया है। पर 'रेणु' इस कठिनतर शिल्पका सही निर्वाह नहीं कर सके हैं, कमसे-कम चरित्रांकनकी दृष्टिसे।

आंचलिक उपन्यासोंके क्षेत्रमें दूसरे प्रयोगकर्त्ता नागार्जुन (१९११ ई०) हैं। 'रतिनाथकी चाची', 'वलचनमा' तथा 'बाबा बटेसरनाथ' उनके स्थानिक रंगोंसे युक्त उपन्यास थे। इधर प्रकाशित 'वरुणके बेटे' (१९५७ ई०) उनकी प्रधानतः आंचलिक कथा-कृति है। वैसे इस उपन्यासमें आंचलिक जीवनकी अपेक्षा एक व्यावसायिक जातिका जीवन अधिक अंकित हुआ है। मिथिलाके कुछ मछुओंको उनके नये विद्रोही स्वरमें प्रदर्शित किया गया है। पर विद्रोहके इस स्वरके अतिरिक्त इस छोटेसे उपन्यासमें संघटन, रचना-दृष्टि तथा कलात्मक चित्रणकी दृष्टिसे कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं है। सीमित आकारके कारण जातीय जीवनका भी कोई संश्लिष्ट चित्र उभर नहीं सका है। शीर्षककी कलात्मक व्यंजना और उपन्यासके रचना-विधानमें कोई समानता नहीं। एक ग्रामीण उद्योगके कुछ पक्षोंको कथाके रूपमें रख देना ही 'आंचलिक उपन्यास' नहीं है, क्योंकि 'आंचलिक उपन्यास' में अंततः आंचलिकताकी अपेक्षा उपन्यासत्व कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

उदयशंकर भट्ट (१८९७ ई०) का 'सागर, लहरें और मनुष्य' (१९५६ ई०) महानगरी बम्बईके उपनगरीय जीवन और उसकी एक प्रमुख व्यावसायिक जाति मछुओंकी कथाको प्रस्तुत करता है। प्रकाशित होनेके समय इस उपन्यासने पाठकों तथा समीक्षकोंका काफ़ी ध्यान आकर्षित किया। बम्बईके सबर्ब और उसकी मिली-जुली बोली (हिन्दी, मराठी, गुजराती और गोआनीज़के संयोगसे निर्मित) के सम्बन्धमें हिन्दी प्रदेशके लोगोंका अपेक्षाकृत बहुत कम ज्ञान इस आकर्षणका एक प्रमुख कारण था। मछुओंके जीवनका वर्णन भी स्वाभाविक तथा जीवन्त है, मानो मछलीकी पनीली गन्धतक उसमें आती है। पर उपन्यासके समूचे कथानकमें विशेष नयापन नहीं है। रत्ना, यशवन्त तथा माणिकके चरित्र और इस त्रिकोणके सन्दर्भमें रत्नाका आचरण प्रायः परम्परागत है। लेखकने जितना साहस एक नया जीवन उठानेमें किया है, यदि उतने ही साहससे वह कथानकका नियोजन भी करता तो प्रस्तुत उपन्यास और अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता था। फिर भी एक विशेष क्षेत्रीय और जातीय जीवनके अंकनमें उपन्यासकारको काफ़ी सफलता मिली है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

पिछले कुछ वर्षोंके महत्त्वपूर्ण उपन्यासोंमें अमृतलाल नागर (१९१६ ई०) का 'बूँद और समुद्र' (१९५६ ई०) प्रमुख है। नागरिक जीवनके केन्द्र मुहल्लेको लेकर इतना सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभीतक नहीं हुआ। सच तो यह है कि एक विशेष क्षेत्रीय जीवनको उभारनेकी दृष्टिसे हिन्दीमें जो उपन्यास लिखे गये हैं, उनमें नागरकी यह कृति शीर्षस्थ है। चरित्रांकन, घटनाक्रमका वर्णन तथा पात्रोंके मनोवैज्ञानिक संघर्षकी यथार्थ पकड़ 'बूँद और समुद्र' के लेखकमें देखी जा सकती है। उपन्यासकी क्लैसिक तथा आधुनिक दोनों ही पद्धतियोंमें जिस सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि और परखकी आवश्यकता होती है, वह नागरमें इतनी है कि उसके माध्यमसे एक अत्यन्त उत्कृष्ट तथा सफल उपन्यासका सृजन हो सके। पर महान् उपन्यास लिखनेके लिए इससे भी अधिक कुछ और चाहिए जिसे वे अभी

पूर्णतः उपलब्ध नहीं कर सके हैं। वे तत्त्व हैं कथा संघटनकी गहराई और समूची कृतिकी रचना-दृष्टि।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह गहराई और विज़न यदि लेखकमें सानुपातिक दृष्टिसे और होता तो 'बूंद और समुद्र'की स्थिति कहीं अधिक स्पृहणीय होती। क्योंकि जितना विस्तृत कैन्वास उपन्यासकारने स्वीकार किया है, उसके निर्वाहके लिए बहुत गहरी और बहुमुखी रचना-दृष्टि अपेक्षित थी। चरित्रकी मौलिक संवेदना और उसके आचरणोंके बीचकी संगतिको नागर अच्छी तरहसे पकड़ सके हैं। उपन्यासकी 'ताई' विश्व कथा-साहित्यके किसी भी सफल चरित्रकी तुलनामें रक्खी जा सकती है। पर समूचे उपन्यासकी रचना-दृष्टिमें वह कुछ अधिक जोड़ नहीं पाती। वह एक समूचे युगकी संवेदना, आचरण तथा अन्धविश्वासोंको अपनेमें समेटे हुए है—एक ऐसा युग जो शताब्दियोंतक भारतवर्षके इस प्रदेशपर छाया रहा, पर जो नवीन सन्दर्भोंके बीच अब विघटित हो रहा है। इस ह्रासोन्मुख संस्कृतिके लोपका चित्र अपने सारे विस्तारमें 'गौन विद द विंड' की कथा-चेतनासे तुलनीय है।

'बूंद और समुद्र' का समाज जिन विभिन्न रेशोंसे प्रस्तुत हुआ है, वे कलात्मक दृष्टिसे सदैव मेल नहीं खाते। तन्त्रके इस अभावमें उपन्यासका कथानक ठीकसे संगठित नहीं हो पाया है। ताई, सज्जन और महिपालकी कथा-धाराएँ आवश्यक अन्विति नहीं प्राप्त कर सकी हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कई कथा-तत्त्व उपन्यासकी भाव-धाराको आगे बढ़ानेमें अनावश्यक सिद्ध होते हैं। रेडियोपर महिपालकी कहानी, कृष्ण-भक्त साधुके आश्रमकी कथा अथवा ब्रजकी नौटंकी जैसे स्थलोंकी कथानकमें कोई संगति नहीं दिखाई देती। सज्जन ताईका नाती है और महिपालका मित्र, इस एक वस्तुगत तथ्यसे ही 'बूंद और समुद्र' की तीन कथाओंको परस्पर सम्बद्ध किया जा सकता है। विस्तृत कैन्वासमें भी संगत तथा संबद्ध घटनाओं और

स्थितियोंका चयन ही उपन्यासकारके सफल कथा-कौशलका प्रमाण है। इस दृष्टिसे नागरका शिल्प जगह-जगह कमज़ोर है।

'बूँद और समुद्र' के सफलतम अंश ताईके चरित्र और लखनऊके चौक मुहल्लेके जीवनसे सम्बद्ध हैं। इन दोनों कथा-तत्त्वोंको लेखकने असाधारण कौशल और अन्तर्दृष्टिसे समन्वित किया है। समाजके अपेक्षाकृत पिछड़े जीवनके मनोभावों, संस्कारों और ईर्ष्या-द्वेषोंका अत्यन्त गहरा अध्ययन लेखकने किया है। पर इतने सशक्त चित्रणकी सबसे बड़ी कमी यह है कि उसमें किसी तलवर्त्ती दृष्टिका अभाव है। इस कमीको लेखकने समाज-शास्त्रीय सिद्धान्तोंकी चर्चा करके पूरा करना चाहा है, पर इससे उपन्यास-की कलात्मक उपलब्धिको क्षति ही पहुँची है। सज्जन, महिपाल और कर्नलकी त्रयीमें कर्नलका चरित्र सबसे अधिक सशक्त है, क्योंकि वह लेखककी कलात्मक संवेदनाके निकट है। उपन्यासका नायक होते हुए भी सज्जनका व्यक्तित्व बहुत उभर नहीं सका है, क्योंकि वह मूलतः सेण्टी-मेण्टल और पुस्तकीय है, जो 'बूँद और समुद्र' की सबल और व्यावहारिक प्रकृतिके अनुकूल नहीं है। उसका परिष्कृत और कुण्ठाओंसे युक्त चरित्र उसकी हवेली और मुहल्लेके वर्जना-मुक्त जीवनसे मेल नहीं खाता। यहाँ तक कि वनकन्याके सहज और किसी हद तक उन्मुक्त व्यक्तित्वके समक्ष भी वह कुछ घुटा-घुटा-सा लगता है। यहींपर कर्नलकी व्यावहारिकता उपन्यासको एक गति प्रदान करती है और सज्जनके पुस्तकीय विवेचन कथा-क्रममें एक ठहराव उत्पन्न कर देते हैं।

उपन्यासका दूसरा महत्त्व उसमें चित्रित यथार्थके नये स्वरूपके कारण है। यथार्थका यह चित्रण यथार्थवादी न होकर एक दम सहज-स्वाभाविक है, और एकसे अधिक स्तरोंका स्पर्श करता है। संस्कारों और कुण्ठाओंसे लेकर लोगोंके दैनिक व्यवहारों, यहाँ तक कि उनकी भाषा तक इस व्यापक यथार्थके अन्तर्गत आ जाती है। भाषा-प्रयोगों और संवादोंकी दृष्टिसे नागरकी सफलता प्रायः स्पृहणीय रही है। प्रस्तुत कृतिमें इन प्रयोगोंके

कुछ और नये आयाम विकसित हुए हैं। मुहल्लोंके जीवनकी सारी अनौपचारिता, निकटता और अश्लीलता भी 'बूँद और समुद्र' के लेखकने गहराईसे पकड़ी है। साथ ही यह अंकन किसी वैचित्र्य-प्रदर्शनके लिए न होकर चरित्र-संवेदनमें सहायक होता है और मुहल्लेके मध्यवर्गीय जीवनके रंगोंको और उभार देता है।

मध्यवर्गीय जीवनको उसके व्यापक परिवेशमें देखनेका जितना बड़ा और सफल प्रयास 'बूँद और समुद्र' में नागरने किया है उतना शायद ही किसी अन्य हिन्दी उपन्यासकारने किया हो। नागरिक मध्यवर्गके वास्तविक केन्द्र नगरोंके मुहल्ले होते हैं, इसे लेखकने भली-भाँति पहिचाना है। इन मुहल्लोंकी बैठकों, हलवाइयों और पानवालोंकी दूकानों और खोंचावालोंमें यह मध्यवर्गीय जीवन अपनी उन्मुक्त अभिव्यक्ति पाता है। व्यक्ति और समाजका बहुत कुछ अनिवार्य सम्बन्ध इस जीवन-पद्धतिका विशेष अंग है। और इस सम्बन्धके असंतुलनको लेखकने कई स्थलोंपर व्यंजित किया है। इस असंतुलनकी सबसे बड़ी प्रतीक है स्वतः वनकन्या, जो बहुत दिनों तक सज्जनके सम्पर्कमें रहनेपर भी अपना सहज स्वाभाविक सन्तुलन नहीं प्राप्त कर पाती।

समाज और व्यक्तिके सन्तुलित सम्बन्धका चित्रण करते समय लेखकने मध्यवर्गीय परिवारके संगठनको सदैव ध्यानमें रक्खा है। वस्तुतः यहाँ इस असन्तुलनका एक प्रधान कारण विघटित परिवार है। मध्यवर्गीय परिवारकी भावनाके टूट जानेपर आधुनिक व्यक्ति उसके स्थानपर किसी अन्य संगठनका समाधान नहीं प्राप्त कर सका है। व्यक्ति और समाजके बीचकी कड़ी परिवारके विघटित हो जानेपर आधुनिक सामाजिक जीवनमें जो गत्यवरोध उत्पन्न हो गया है, उसका यथार्थ अंकन 'बूँद और समुद्र' के लेखकने किया है। इस गत्यवरोधको प्रतिफलित करनेवाले मुहल्लोंके सूक्ष्म और सहानुभूतिपूर्ण अंकनकी दृष्टिसे नागरका यह उपन्यास हिन्दी कथा-साहित्यकी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। 'सहानुभूतिपूर्ण' इसलिए विशेष रूपसे

कहता हूँ क्योंकि नागरमें सैटायर और आक्रोशकी भावना नहीं है, और शायद यह एक कारण है जिससे कि विगलित समाजका चित्र उपस्थित करनेपर भी 'बूँद और समुद्र' में हमें कोई मौलिक दृष्टि नहीं मिल पाती।

किसी विशेष क्षेत्रीय जीवनको प्रस्तुत करनेवाले उपन्यासोंके अतिरिक्त हिन्दीके नये कथा-साहित्यमें कुछ और प्रयोग भी हुए हैं। भाव-बोध तथा शिल्प दोनों ही दृष्टियोंसे 'तन्तुजाल' (रघुवंश), 'खाली कुर्सीकी आत्मा' (लक्ष्मीकान्त वर्मा) और 'सोया हुआ जल' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना) का विशेष महत्त्व है। रघुवंश (१९२१ ई०) का 'तन्तुजाल' (१९५८ ई०) प्रणयकी एक आधुनिक परिस्थितिको एक नये शिल्पके माध्यमसे प्रस्तुत करता है। यह एक विचित्र तथ्य है कि भारतीय सामाजिक जीवनमें प्रेमके सहजतम रूपको सबसे अधिक कुण्ठाग्रस्त और अनैतिक माना गया है। इस अपवारित सम्बन्धका बड़ा पारिवारिक चित्र रघुवंशने प्रस्तुत किया है। 'तन्तुजाल'में नीरा और नरेशका स्नेह-सम्बन्ध प्रचलित कोटियोंके सन्दर्भमें स्पष्ट नहीं है। उपन्यासकारने उसे इसी रूपमें चित्रित करना चाहा है। मानव जीवन अंकगणितकी भाँति सदैव स्पष्ट और निश्चित हो भी नहीं सकता। जो कुछ अस्पष्ट है, उसे उसी अस्पष्टतामें प्रस्तुत करना नये कथा-शिल्पकी विशेषता है। 'तन्तुजाल'का कथा संगुंफन इस दृष्टिसे अत्यन्त सफल है।

'तन्तुजाल'का प्रणय एक रुग्णाका है। अतः सम्पूर्ण कथानकमें एक अजब-सी अवशताका वातावरण है। नीरा वर्षोंसे बीमार चारपाईपर पड़ी है। उसको इस अवस्थाके चिन्तन और उसे देखनेके लिए आते हुए नरेश भैयाके ट्रेनमें भाव-चित्रोंके माध्यमसे कथानकको बुना गया है। अपनी रुग्णताके सन्दर्भमें नीराकी बौद्धिक भावुकता हिन्दी कथा-साहित्यके लिए अपेक्षाकृत नयी है। नीराके भाव-चित्रपर ही सारा उपन्यास आधारित है—'विराट् पीपलका एक पत्ता है····हरा-भरा, चंचल, अस्थिर और जीवनसे स्पन्दित !····उसके कोमल तरंगित अस्तित्वके नीचे सहस्रों पतले

सूक्ष्म तन्तुओंका वेहद उलझाव है जिनमें उसकी चेतनाका स्रोत प्रवाहित है। लेकिन····लेकिन उसके साथ एक कीड़ा भी है जो उस पत्तेमें लगता है, धीरे वहुत धीरे हरियालीको चाटता है, चाटता जाता है।····पत्ता सूखता जाता है, उसकी अनन्त चेतनाका स्रोत उसीके साथ विलीन हो जाता है। फिर एक दिन अपनी समस्त पिछली स्मृतियोंके रूपमें रह जाता है····तन्तुजाल!' उपन्यासके समूचे ढाँचेमें यह रुग्णता और ह्रास तथा उसके साथ एक अनिवार्य अवशताकी भावना बराबर वनी रहती है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि 'तन्तुजाल'में किसी प्रकारकी 'मौरविडिटी' अथवा निराशाकी भावना है। उसके कथानककी अतिभावुकता कहीं-कहीं खटकने लगे, यह दूसरी बात है।

कथा-शिल्पके क्षेत्रमें 'तन्तुजाल' एक विशिष्ट प्रयोग है। एक ओर तो वह सीमित अवधिकी कथा है और दूसरी ओर उसका सम्पूर्ण कथानक उपन्यासके दो प्रमुख पात्रोंके चिन्तनमें ही विकसित होता है। इस प्रकार-की शिल्प-पद्धतिकी अपनी कमियाँ और सीमाएँ भी हैं। यदि वह सारे कथानकको अत्यन्त घनीभूत वना देता है तो उसमें स्थान-स्थानपर एक-रसताकी भावना भी उत्पन्न हो सकती है। सूक्ष्म, जटिल और अपेक्षाकृत नयी मनोवैज्ञानिक परिस्थितियोंको व्यक्त करनेवाले शब्द-प्रयोगोंका अभाव उपन्यासकारकी कठिनाईको और भी बढ़ा देते हैं। पर इतने खतरोंके होनेपर भी लेखकका यह साहसिक प्रयोग सराहनीय है।

अपनी कहानियोंमें रघुवंशकी मुख्य संवेदना पारिवारिक रही है। पर उनका यह परिवार मात्र रक्त-सम्बन्धोंपर ही आधारित न होकर सहज-स्नेह सम्बन्धोंको भी अपना आधार वनाता है। इसीलिए परम्परागत परिवारकी भावनाके विघटनके इस युगमें भी उनकी पारिवारिकता अका-लिक नहीं लगती। वरन् वह नयी और व्यापक नागरिक संस्कृतिके सन्दर्भमें प्राचीन सीमित परिवारके संगठनका एक आधुनिक रूप है, जो नये मानवके एकाकीपन और रिक्तताको एक नया और सुदृढ़ आधार

प्रदान करती है। सीमित ग्रामीण जीवनका परिवार आजके नगरोंकी जीवन-पद्धतिमें अधूरा और अनुपयुक्त लगता है। उसका आधुनिक रूप किन स्तरोंपर विकसित होकर भारतीय जीवनके माधुर्य और आत्मीयताको बनाये रख सकता है, इसके कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत रघुवंशका कथा-साहित्य दे सकता है।

'तन्तुजाल' के गठनकी एक बड़ी कमी है उसके नायकका कमज़ोर व्यक्तित्व, जो आधुनिक स्थितियों और सन्दर्भोंके अनुकूल नहीं बन पाता। नरेशका चरित्र प्रारम्भसे अन्ततक बराबर 'सेण्टीमेंटल' रहता है; उसकी यह मूल प्रवृत्ति उपन्यासके समस्त वातावरणपर भी छा गई है, जिसके कारण उपन्यासकी गहराईको क्षति पहुँची है। रुग्णके प्रेमका थोड़ा 'सेण्टीमेंटल' होना तो स्वाभाविक है, पर 'तन्तुजाल' के अन्य पात्रोंमें प्रतिफलित यह प्रवृत्ति कथा-शिल्पको कमज़ोर बनाती है, विशेष रूपसे आधुनिक साहित्यके बौद्धिक वातावरणके सन्दर्भमें। नीराके पापा और डाक्टर अंकिलके चरित्र यदि कुछ और विस्तार पा सकते तो उपन्यासमें भावात्मक संतुलन अधिक होता। नीरा और नरेशकी अतिभावुकताका प्रभाव उपन्यासकी भाषा तक पर पड़ा है, जो पैरेंथीसिस और शब्द-पर्यायोंकी आवृत्तिके कारण कहीं-कहीं व्यंजना-शक्ति खो बैठती है। प्रकारान्तरसे-अँग्रेज़ी शब्दोंके बार-बार प्रयोग कुछ तो उपन्यासके प्रमुख पात्रोंके व्यक्तित्व-के कारण हैं, और कुछ अपेक्षाकृत नवीन मनःस्थितियोंको व्यक्त करनेके उद्देश्यसे हैं।

नये कथा-साहित्यमें चरित्रोंके मनस्तत्त्वकी बारीकियोंको पकड़नेकी ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। क्लैसिकल उपन्यासमें यह प्रवृत्ति पात्रोंकी व्यक्तिगत शैलियों और आचरणकी विशिष्टताओंके अंकनमें अभिव्यक्ति पाती थी। यह सूक्ष्मका स्थूलके प्रति विद्रोह नहीं है वरन् स्थूलका ही सूक्ष्मके स्तरपर रूपान्तरण है। आचरणकी विशिष्टताओंके स्थानपर उसके पीछेके मनस्तत्त्वको पकड़ पानेका महत्त्व अब अधिक है। 'तन्तुजाल'

के कुछ चरित्रांकनोंमें इस बातका सफल प्रयास दिखाई देता है। शान्ता वींदनी या सुंदरी जैसे पात्र मुख्यतः मनोवैज्ञानिक भाव-भूमिपर आधारित होते हुए भी मांसल हैं। स्थूलकी सूक्ष्ममें परिणति और फिर उस सूक्ष्मकी अपेक्षाकृत स्थूल प्रतीति नव कथा शिल्पके विकासकी परिचायक हैं।

लक्ष्मीकान्त वर्माका प्रथम उपन्यास 'खाली कुर्सीकी आत्मा' (१९५८ ई०) नये कथा शिल्पका एक दूसरा रूप प्रस्तुत करता है। मुख्यतः सामाजिक सैटायरसे अभिप्रेरित यह कथा-कृति समसामयिक जीवन-पद्धतिके सम्बन्धमें एक रचनात्मक दृष्टि सामने रखती है। अपेक्षाकृत बड़े आकारमें होनेके कारण उपन्यासका शिल्प कहीं-कहीं बिखर भले ही गया हो, पर उसकी रचना-दृष्टि समग्रतः सुरक्षित रह सकी है। लेखककी यह मूल दृष्टि कथाके माध्यमसे भी अभिव्यक्त हुई है और विभिन्न पात्रोंके मुखसे भी कहलाई गई है। नये कथा-साहित्यकी बौद्धिक विशिष्टताके कारण उसमें यह 'स्वशब्दवाच्यत्व दोष' पहले जितना अवांछनीय चाहे न भी माना जाता हो, पर वह कथा-शिल्पकी सफलताका परिचायक तो नहीं ही है। उपन्यासके 'विज़न' में नया मनुष्य है जो एक बेहतर व्यवस्थाको स्थापित कर सकेगा। 'साहित्यकार सोचता है यह बालक और यह अपाहिज ऐसे लगते हैं जैसे भावी संतति अपने पीछे पंगु, अपाहिज संस्कारोंको छोड़कर आगे बढ़नेका प्रयास कर रही हो।' यद्यपि कुछ ही आगे चलकर उसे अपने इस विश्वासमें शंका होने लगती है 'लेकिन उसने फिर सोचा और उसे लगा यह सब व्यर्थ है, इसमें न तो कभी भावनाको तीव्र बनानेकी क्षमता है और न शक्ति है। यह केवल एक दुर्घटना है जो किसी दूसरी दुर्घटनाको जन्म देकर समाप्त हो जाती है।' इस आस्था और अनास्थाके बीच ही उसका विश्वास उभरता है, जो किसी हद तक भविष्यवादी है। उपन्यासका अन्त होता है, 'और बच्चा चीख रहा है''''चीख''''जिसका अर्थ अभी बन नहीं पाया है।' तीखे सैटायरकी निराशामें परिणतिके स्थानपर भविष्यकी आस्थामें यह परिणति नवलेखनकी अपनी विशेषता है।

नागरके 'बूँद और समुद्र'में मध्यवर्गीय समाजके आचरणोंका जितना सजीव अंकन मिलता है, 'खाली कुर्सीकी आत्मा'में मध्यवर्गीय जीवनके चिन्तन और मनोवैज्ञानिक अभिप्रायोंका उतना ही सहज संवेदन है। घड़ीकी टिक-टिकमें अपने यौवनको बेच देनेवाले डाक्टर वनडोलेसे लेकर रिश्वत और रामनाम बैंकका हिसाब एक ही कापीमें रखने वाले जनार्दन गार्ड तक उपन्यासकारने आधुनिक मध्यवर्गके मानसिक अवरोधको सैटायर और प्रतीककी भाषामें व्यक्त किया है। वेटिंगरूमका अपाहिज डाक्टर कहता है, "आदमी आज अपने केन्द्र-स्थलसे विस्थापित हो चुका है—उसके दिमागमें तरह-तरहके कीड़े पैदा हो गये हैं जो उसे चैनसे बैठने नहीं देते—केकड़ेकी तरह तीखी चुभनेवाली टाँगे लेकर जब ये कीड़े अपनी सारी भूख उसके पिलपिले भेजेमें चुभा देते हैं तो फिर आदमी आदमी नहीं रहता।" आत्मियतके इस ह्रासके प्रति ही लेखकका मुख्य 'कन्सर्न' है।

लक्ष्मीकांत वर्माकी शैलीकी कई विशेषताएँ ऐसी हैं, जो उनकी कविता और कथा-साहित्यमें प्रायः समान रूपसे देखी जा सकती हैं। प्रतीक-पद्धतिका प्रयोग एक ऐसी ही विशेषता है। लौह पुरुष, डा० वनडोलेकी घड़ियाँ या डा० संतोषीके चूहों सम्बन्धी प्रयोग लेखकके कथ्यको प्रतीक रूपमें व्यक्त करते हैं। पर ये प्रतीक परम्परागत पद्धतिसे बिलकुल भिन्न हैं, और अपनी प्रकृतिमें नितान्त सामान्य और अकिंचन हैं। 'खाली कुर्सीकी आत्मा'के प्रतीकोंका महत्त्व तो कुछ और भी अधिक है। लोहेके खिलौनोंके पारस्परिक संवाद उपन्यासकी घटनाओंपर जो विवेचन करते हैं, वह अनायास ही ग्रीक 'कोरस'का स्मरण दिला देता है। पर इस प्रचलित शैलीका एक सर्वथा नया रूप लक्ष्मीकान्त वर्माने ग्रहण किया है। ये खिलौने अपने आपमें कथानकके महत्त्वपूर्ण अंग भी हैं, और उनके संवादोंका विवेचन-मूल्य अलगसे है। कुछ इसी प्रकारका प्रतीक लेखकने खटमल और दीमकके माध्यमसे रखा है, यद्यपि इस युग्मको उन्होंने आगे नहीं बढ़ाया। पर केवल प्रतीकोंके माध्यमसे ही लेखकने अपनी बात कहनी

चाही हो, ऐसा भी नहीं है। प्रतीक-योजना उपन्यासके कथानकको अपने ढंगसे आगे बढ़ाती है, पर अपने आपमें निरपेक्ष और स्वतन्त्र नहीं है।

लेखककी शैलीकी एक दूसरी विशेषता है सामान्य घटनाओं, वस्तुओं या परिस्थितियोंको तात्त्विक दृष्टिसे देखनेकी प्रवृत्ति। पर यह शैलीगत विशेषता स्थान-स्थानपर कथाकारकी एक कमज़ोरी भी हो गई है। उपन्यासके संवादों और वर्णनोंकी अनावश्यक दुरूहताका यह प्रधान कारण है। 'खाली कुर्सीकी आत्मा'के एक वृद्ध पैटमैनकी बातचीतका अन्दाज़ यों है; "सिगनलकी हरी बत्ती दो....क़ायदा है....सिर्फ़ हरी बत्ती सलामतीका सूचक है और नहीं तो सिर्फ़....लाल....लाल रोशनी....जो ठहराव है....खामोशी है....आतंक है....।" बातचीतके टुकड़ोंके बीचके विराम स्पष्ट ही इस तात्त्विकताके आवरणको और गहरा करनेके प्रयास हैं। खाली कुर्सीके मालिक हवल्दारका एक वाक्य है "आदमीकी तस्वीर उस काग़ज़के पुतलेके समान है जो आतशबाजों द्वारा आसमानमें टाँग दिया जाता है लेकिन जिसके पैरमें बारूद-भरी चर्खी और माथेपर ठोस जस्तेकी गोलियाँ रहती हैं....। कोई आतशबाज नीचे पैरमें आग लगा देता है और दिमागकी गोलियाँ निकलने लगती हैं, लेकिन उन्हींके बीच जो गल नहीं पाता, जल नहीं पाता वह ठोस कारतूसकी गोली है और वही जिन्दगी है।" यह मौक़े-बेमौक़े तत्त्व-दर्शनकी प्रवृत्ति अपने आपमें तो अनावश्यक है ही, साथ ही उपन्यासके अधिक गम्भीर स्थलोंके रसबोधको भी यह हल्का बना देती है। अपने सारे क्रांतिकारी प्रयोगोंके बावजूद लेखक इस परंपरागत तत्त्व-दर्शनकी प्रवृत्तिसे अपनेको मुक्त नहीं कर सका है, यह एक विलक्षण तथ्य है।

कविताके समान ही लक्ष्मीकान्तके उपन्यासमें तीखे व्यंग शैलीके प्रमुख अंग हैं। पर इन व्यंगोंके पीछे आक्रोश है, जब कि उनकी कविताकी मूल भाव-भूमि सहानुभूतिपूर्ण है। उपन्यासका व्यापक परिवेश इस आक्रोशके

अधिक अनुकूल हैं भी। सैटायर जिस मनःस्थितिका प्रतीक है वह सामान्यतः निराशावादी होती है, पर नयी कविता और नये कथा-साहित्यमें यह सैटायर आस्थाहीन नहीं है, क्योंकि आक्रोश और निराशा साथ-साथ नहीं चल सकते। आक्रोश तो व्यक्तित्वकी सबलताका परिचायक है, विघटनका नहीं। और इसीलिए नये साहित्यका सैटायर प्रधानतः रचनात्मक है।

'खाली कुर्सीकी आत्मा'का शिल्प मिश्रित और नया है। कई शिल्प पद्धतियोंके संयोगसे उसमें कुछ अस्पष्टता अवश्य है, पर कुल मिलाकर मध्य-वर्गके जिस बहुमुखी समाजका लेखक चित्र प्रस्तुत करना चाहता है वह उस आवश्यकताके प्रायः अनुरूप है। आत्मकथात्मक शैलीसे लेकर प्रवाह-वादी शिल्प तकके नमूने 'खाली कुर्सीकी आत्मा'में देखे जा सकते हैं। समूचे उपन्यासमें एक छोटेसे नगरके जीवनकी कथा है, जिसके अलग-अलग टुकड़े कथानककी 'नायिका' कुर्सी द्वारा जुड़े हुए हैं, वह कुर्सी जो बहुतोंके एकान्त क्षणोंकी सहचरी रही है। बौद्धिक प्रतिभाओं, सामान्य पण्डितों और ज्योतिषी तथा बिगड़े शायरके नितान्त व्यक्तिगत जीवनका आख्यान लेखक-ने प्रायः समान रुचि और अन्तर्दृष्टिसे प्रस्तुत किया है। उनके मनस्तत्त्व-का विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञानपर आधारित होते हुए भी पुस्तकीय नहीं है। वह प्रत्यक्ष जीवनसे गृहीत है।

मानवीय संबंधोंकी विविध भाव-भूमियोंका अध्ययन लक्ष्मीकान्त वर्माके उपन्यासमें व्यंगकी प्रधानताके कारण अतिरंजित रूपमें हुआ है। पर फिर भी वे अपनी स्वाभाविकतासे विरहित नहीं हैं। दिव्या देवी और सारथी ज्वालाप्रसादके संवादोंमें उनका संबंध जिस रूपमें उभरा है, वह एक स्तरपर व्यंग प्रधान अवश्य है, किन्तु अपनी सारी अतिरंजनामें भी वास्तविक है। इसका प्रधान कारण यह है कि लक्ष्मीकान्तने यथार्थको बड़े सबल हाथोंसे पकड़ा है। निम्न मध्य वर्गके मनोविज्ञानको उसकी समस्त गहराइयोंमें अंकित करना 'खाली कुर्सीकी आत्मा' की पहली और सबसे बड़ी विशेषता है। इस क्षेत्रमें 'बूंद और समुद्र'के साथ उसकी गणना नये कथा-साहित्यकी

महत्त्वपूर्ण कृतियोंमें होगी। इस कृतिका महत्त्व इसलिए और भी अधिक है कि उसमें प्रयोगकी कई नयी और अछूती सम्भावनाएँ विकसित हुई हैं।

वर्त्तमान दशकके कथा-साहित्यका एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रयोग सर्वेश्वर-दयाल सक्सेनाके 'सोया हुआ जल' (१९५५ ई०) में मिलता है। किसी यात्रिशालाकी एक रातमें हुई घटनाओंको सिनेरियो शिल्पके माध्यमसे इस कृतिमें प्रस्तुत किया गया है। इसका सिनेरियो शिल्प लगभग वैसा ही है जैसा कि सार्त्रके 'चिप्स आर डाउन'में द्रष्टव्य है। प्रतीकोंका नया और सफल प्रयोग सर्वेश्वरकी अपनी विशेषता रही है, जो इस कृतिमें भी देखी जा सकती है। पर कविकी इस गद्य कृतिमें प्रतीकों और अभिप्रायोंकी योजना बहुत कुछ अतियथार्थवादी है। बूढ़े पहरेदारके माध्यमसे लेखकने विभिन्न यात्रियोंकी मनोभावनाओं और संघर्षोंको एक रागात्मक तटस्थताके साथ देखा है। अपने-अपने कमरेमें हर एकका नितान्त व्यक्तिगत जीवन है, उनके अपने फ्रस्ट्रेशन हैं, जिन्हें पहरेदार एक अवशताके साथ देखता है, और इन विभिन्न संवेदनोंको एक साथ झेलनेका यत्न करता है। पर इन सबको एक साथ ले चल पाना उसके मानका नहीं रहा है। नये सवेरेके आने तककी वह प्रतीक्षा नहीं कर पाता, पर मृत्युके बाद भी उसकी अनुभूति समाप्त नहीं हुई है; वह देखता है, "उसकी लाश बेंचके पास जमीनपर पड़ी है। पास बैठा एक कुत्ता मोटी, काली, रूखी रोटियाँ चबा रहा है। नया सवेरा उग रहा है। किशोर और रतना गाड़ीपर बैठ चले गये हैं। विभा और राजेश जाग उठे हैं। कमरेमें हरी रोशनी अब भी जल रही है। ताल की सीढ़ियोंपर घूमता हुआ दिनेश गुनगुना रहा है....

फूलोंकी क्यारियोंमें
रात, शराबकी खाली बोतल दफन कर गयी है
ताकि नया सबेरा उसे न देख सके।"

शिल्पके साहसिक प्रयोगकी दृष्टिसे सर्वेश्वरके उपन्यास 'सोया हुआ

जल'का महत्त्व विशेष है। जिस प्रकार नयी कविताके वर्तमान रूपमें पाठकके सहभोगकी अनिवार्य स्थिति है, उसी प्रकारसे इस उपन्यासमें आस्वादात्मक प्रक्रिया भी लम्बी और जटिल है। जीवन्त और सक्रिय पाठकका जितना महत्त्व नवलेखनमें है, उतना इसके पूर्व कदाचित् कभी न था। ('निकष'—१के सम्पादकीयमें पाठकके इस नये दायित्वके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण संकेत मिलते हैं) नये साहित्यमें उसकी सत्ता मात्र रसग्राहककी नहीं है, वरन् उस रस निष्पत्तिके एक सहायक अंगके रूपमें है। 'सोया हुआ जल' अमूर्त्त कलाकी भाँति निष्क्रिय पाठककी दृष्टिमें प्रायः निरर्थक हो सकता है। नयी कलाका अनुभावन अपनी मौलिक प्रकृतिके कारण पाठक, श्रोता या दर्शकसे पहलेकी अपेक्षा अधिक समय, सहानुभूति और सहभोगकी अपेक्षा रहता है। कथा-साहित्यके शिल्पके क्षेत्रमें सर्वेश्वरका उपन्यास इस बदले हुए सम्बन्धका प्रथम सशक्त प्रतीक है।

हिन्दी उपन्यासमें नये शिल्पकी दृष्टिसे कुछ अन्य प्रयोग भी हुए हैं, पर इन कथा-कृतियोंमें शिल्पका महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक हो गया है। प्रभाकर माचवे (१९१७ ई०) के उपन्यास 'द्वाभा' (१९५५ ई०) का कथा-संगठन प्रयोगकी दृष्टिसे सबसे अधिक असाधारण है। शिल्पकी इस प्रधानताने कथानकको कमज़ोर कर दिया है, यद्यपि कथा-कृतिकी मौलिक दृष्टि कहीं आच्छादित नहीं हो सकी है। भारतीय नारीके विभिन्न रूपों और स्तरोंको 'द्वाभा'में एक नयी दृष्टिसे प्रस्तुत किया गया है। स्कैच, कविता, डायरी, निबन्ध, कहानी साहित्यके इन विभिन्न माध्यमोंको लेखकने बड़े कौशलसे एक साथ नियोजित किया है। उपन्यासकी भूमिका, जो सबके अन्तमें दी गयी है, सम्पूर्ण कथाका एक अनिवार्य खण्ड बन गई है। कुल मिलाकर नयी शिक्षा और संस्कृतिके सन्दर्भमें भी भारतीय नारी कितनी अवश तथा एकाकिनी है, इस तथ्यकी कलात्मक व्यञ्जना माचवेकी इस कृतिमें एक नये ढंगसे हो सकी है। समूचे कथा-शिल्पमें वैचित्र्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति भले ही न हो, पर विधानके समक्ष कथानकका अवमूल्यन

उपन्यासकी मौलिक प्रकृतिसे मेल नहीं खाता। किन्तु इस प्रसंगमें यह स्मरणीय है कि सभी प्रयोग सुखद और हृदयको छू लेनेवाले हों, यह भी आवश्यक नहीं है। क्योंकि प्रयोग तो प्रमुखतः अनेक आगामी सफलताओंकी भूमिका होता है। इस दृष्टिसे उसकी अपनी सफलता जितनी वर्तमानमें है, उससे कहीं अधिक भविष्यमें प्रक्षिप्त है। इसके अतिरिक्त 'द्वाभा'की रचना-दृष्टिका मूल्य भी कुछ कम नहीं है। शिक्षा और सामाजिक स्वतन्त्रतासे ही नारीकी मुक्ति सम्भव नहीं हो पाती, उसके पुनरन्वेषणके लिए कुछ और परिष्कार आवश्यक है। 'द्वाभा'का आधुनिक नारीके सम्बन्धमें यह विश्लेषण शरच्चन्द्रके वादकी स्थितिका एक महत्त्वपूर्ण पर्यावलोकन है। शिल्पकी आनुपातिक प्रधानता होनेपर लेखककी यह दृष्टि और तीव्रतासे उभर सकती थी। पर उपन्यासके मौलिक स्वरूपमें परिवर्त्तन करके भी माचवेका यह संकेत स्पष्ट रह सका है, यह कम सफलताकी बात नहीं है।

केशवचन्द्र वर्माकी कथा-कृति 'काठका उल्लू और कबूतर' (१९५५ ई०) शिल्पके सम्बन्धमें एक दूसरे प्रकारका प्रयोग है। कई-कई रातों तक चलनेवाली क़िस्सागोईका यह नया संस्करण है। लेखकने किंचित् हास्यके पुटके साथ मध्यवर्गका सर्वेक्षण अपने ढंगसे किया है। पर शिल्पके वैचित्र्य में उपन्यासका कथानक कुछ बिखर गया है। प्रत्यक्षतः असम्बद्ध कथा-सूत्रोंको जोड़नेके लिए जिस रचनात्मक अन्तर्दृष्टिकी आवश्यकता होती है, वह इस उपन्यासकी हल्की-फुल्की प्रकृतिके बहुत अनुकूल नहीं पड़ती। शिल्प और कथानकके इस विरोधाभासने उपन्यासकी सम्भावनाओंको पूरा नहीं होने दिया। भाव-व्यञ्जनासे असंपृक्त शिल्प वैसे भी असहाय हो जाता है। पर इसके बावजूद 'काठका उल्लू और कबूतर' की प्रतीक-योजना तथा सैटायर प्रभावपूर्ण हैं। मध्यवर्गीय जीवनके कुछ नये और अछूते चित्र अपने अतिरंजित रूपमें भी यथार्थ-अंकनकी नवीन दिशाओंके सूचक हैं।

यथार्थकी पकड़की दृष्टिसे नयी पीढ़ीके कथाकारोंमें कमलेश्वरका स्थान

विशिष्ट है। पर उनका प्रथम उपन्यास 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' सजग शिल्प और कौशलका उदाहरण अधिक हो गया है। क़स्बेकी ज़िन्दगीका बड़ा सूक्ष्म अध्ययन लेखककी कहानियोंमें मिलता रहा है। उस जीवनके विशिष्ट पक्षोंको यदि इस उपन्यासमें और भी उभारा जा सकता तो वर्त्तमान कृतिका भाव-बोध कहीं ऊँचे स्तरका होता। चरित्रोंकी दृष्टिसे 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ'का विन्यास अधिक सफल है। यों उपन्यासका विधान कुछ बहुत नया नहीं है, पर उसकी सजगताने लेखकके उस अकृत्रिम भाव-बोधको क्षति पहुँचाई है, जो उसकी कहानियोंकी एक प्रमुख विशेषता रही है। शिल्पके सजग प्रयोगके लिए सुचिन्तित कथानक चाहिए, जो कमलेश्वरकी सहज कथा-पद्धतिके अनुकूल नहीं पड़ता।

कथा-शिल्पके प्रयोगके क्षेत्रमें हिन्दी उपन्यासका विकास स्वभावतः कई दिशाओंमें हुआ है। प्रायः हर महत्त्वपूर्ण कथा-कृतिमें एक नयी पद्धतिको देखा जा सकता है, यद्यपि किसी उपन्यासकी सफलताके लिए यह शर्त नहीं है कि वह शिल्पके किसी नये प्रकारमें लिखा गया हो। पर चूँकि प्रयोगकी सम्भावना शिल्पमें अधिक आसानीसे पूरी हो सकती है, अतः नये कथा-साहित्यमें 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' (१९५२ ई०) से लेकर 'खाली कुर्सीकी आत्मा' (१९५८ ई०) तक कथा-विधानके विभिन्न रूप देखे जा सकते हैं। चौबीस घण्टोंमें सीमित कथानकके ही कई प्रकार द्रष्टव्य हैं। "चाँदनीके खँडहर" (गिरिधरगोपाल), "डूबते मस्तूल" (नरेश मेहता) तथा 'तन्तुजाल' (रघुवंश) में इस एक ही शिल्प-विधिका निर्वाह अलग-अलग ढंगसे किया गया है। कथाके अन्दर कथाकी पुरानी-नयी शैली 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' तथा 'काठका उल्लू और कबूतर'में देखी जा सकती है। 'नदीके द्वीप' और 'काले फूलका पौदा'में कथानकको प्रधान पात्रोंकी दृष्टिसे खण्डोंमें विभक्त किया गया है। 'नागफनीका देश', 'परती परिकथा' तथा 'द्वाभा'में प्रवाहवादी शिल्पकी प्रधानता है। 'खाली कुर्सीकी आत्मा' आत्मकथात्मक शैलीका एक सर्वथा नया रूप है। यह एक

जड़ पदार्थकी संवेदनात्मक कथा है। 'बाहर-भीतर'में भी इस प्रकारकी शिल्प-विधिका नया प्रयोग मिलता है। और सर्वेश्वरका 'सोया हुआ जल' सिनेरियो शैलीमें लिखा गया है। इसके अतिरिक्त परम्परागत शैलीमें लिखे गये उपन्यासोंकी भी कमी नहीं है; 'गुनाहोंका देवता', 'पथकी खोज', 'मैला आँचल', 'वरुणके बेटे', 'सागर, लहरें और मनुष्य' और 'बूँद और समुद्र' शिल्प-विधिकी किसी नवीन पद्धतिको नहीं प्रस्तुत करते।

हिन्दीके इन नये उपन्यासोंमें फ़्लैशबैकका प्रयोग भी कई रूपोंमें हुआ है। 'डूबते मस्तूल'की सारी कथा रंजनाके द्वारा प्रायः जबरन सुनवाई गई है। इस प्रकारमें फ़्लैशबैककी मनोवैज्ञानिक भाव-भूमि नहीं उभर पाती। इस शैलीका स्वाभाविक निर्वाह 'तन्तुजाल'में हुआ है, जहाँ नायक-नायिकाके चिन्तनके टुकड़ोंके माध्यमसे सारी कथा प्रस्तुत की गई है। इस शिल्पका एक अत्यन्त सफल रूप ताराशंकर बन्द्योपाध्यायके 'आरोग्य निकेतन'में देखनेको मिलता है। 'तन्तुजाल'का कथानक भी बड़ी सावधानी-के साथ बुना गया है। नीरा और नरेशकी जो मनःस्थिति है उसमें अतीतका खण्डशः अवलोकन नितान्त स्वाभाविक है। और जगह-जगह ये फ़्लैशबैक टूटकर वास्तविक जीवनमें आ जाते हैं। इस प्रकार वर्त्तमान और अतीतका यह मनोवैज्ञानिक और कलात्मक सामञ्जस्य काफ़ी सफल बन पड़ा है।

सीमित अवधि (एक दिन) के कथानकके सम्बन्धमें पहले भी कहा जा चुका है। इस शिल्पका वास्तविक निर्वाह 'चाँदनीके खंडहर'में हुआ है। नायकके इलाहाबाद स्टेशनपर आनेसे शुरू होकर कथानक दूसरे दिन सबेरे तक चलता है, और इस बीचकी सभी संगत परिस्थितियों और घटनाओंका अंकन इस उपन्यासमें हुआ है। 'डूबते मस्तूल'का कथानक भी समयावधिकी दृष्टिसे सीमित है, पर उसमें रंजनाकी आत्मकथाका विस्तार अनेक वर्षोंके व्यवधानमें फैला हुआ है। इसी प्रकारसे 'तन्तुजाल' में दिल्लीसे लेकर जयपुर तककी एक्सप्रेस ट्रेनकी यात्राका समय लिया गया

है। पर इतने ही कालमें नरेश और नीराके अतीत-दर्शनके माध्यमसे काफ़ी लम्बा कथानक प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टिसे 'चाँदनीके खँडहर' का कथानक जितना घना है, उतना शेष दो कथा-कृतियोंका नहीं। पर यह अवश्य है कि जिस दिनका वर्णन इस उपन्यासमें किया गया है, वह असाधारण है, वह कई वर्षोंके बाद बसन्तके विदेशसे आगमनका दिन है। साधारण दिन और साधारण क्षणोंको संगत तथा घनीभूत बना देने वाले कथानक और शिल्पका हिन्दीमें अभी प्रयोग नहीं हुआ है।

क़िस्सागोईकी अत्यन्त प्राचीन शैलीको नये सन्दर्भोंमें 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' तथा 'काठका उल्लू और कबूतर'में लिया गया है। इस प्रकारका शिल्प व्यंग तथा सैटायरके लिए अधिक उपयुक्त हो सकता है, और इन दोनों कथा-कृतियोंमें शिल्पकी इस आन्तरिक प्रकृतिको पहिचाना भी गया है। पर इस सबके बावजूद इस कथा-विधिका इतना संस्कार नहीं किया जा सका जिससे कि वह नवीन और आधुनिक लगने लगे। यह अवश्य है कि 'काठका उल्लू और कबूतर'में इस प्राचीन शिल्पका जितना अपरिवर्त्तित रूप है, उसीके अनुरूप उसके कथा-अभिप्राय हैं। इसके विपरीत 'सूरजका सातवाँ घोड़ा'में इस शिल्पको यथासंभव स्वाभाविक बनानेका प्रयत्न किया गया है।

खंडोंमें विभक्त कथानककी शैली अपेक्षाकृत पुरानी है। एक ही घटना तथा परिस्थितिको विभिन्न पात्रोंकी दृष्टिसे देखनेका इसमें अच्छा अवसर रहता है। साथ ही पात्रोंकी पारस्परिक स्थितियाँ और आन्तरिक मनोभाव भी इस शैलीमें काफ़ी स्पष्ट हो सकते हैं। 'काले फूलका पौदा' में इस शिल्पकी पहली सम्भावना पूरी हुई है, और 'नदीके द्वीप'में दूसरी। पर इस शिल्पका एक बड़ा दोष यह है कि समग्र कथानकको एकबारगी न ले सकनेके कारण उसमें पर्याप्त नाटकीयता और कथात्मक संगति नहीं आ पाती। पूर्ण आत्मकथात्मक शैलीका ही यह एक विकसित रूप है, पर उसकी तुलनामें इसकी संभावनाएँ अपेक्षाकृत कम सिद्ध हो सकी हैं।

उपन्यासका प्रवाहवादी शिल्प अपने आपमें एक स्थिरीकृत रूप नहीं है। हिन्दीमें भी इसके कई प्रकार देखे जा सकते हैं। 'नागफनीका देश', 'परती परिकथा' तथा 'द्वाभा'में कुछ इसी प्रकारका विधान है। उपन्यास शिल्पके लचीलेपन तथा सम्भावनाकी दृष्टिसे 'द्वाभा'की स्थिति नये हिन्दी कथा-साहित्यमें असाधारण है। प्रवाहवादी शैलीकी विशेषता है जीवन-को उसके सहजतम रूपमें ग्रहण करनेकी क्षमता। सामान्य और निरर्थक क्षणोंको भी उसमें समुचित स्थान मिलता है। 'द्वाभा'का कथा-संघटन इसी प्रकारका है। विभिन्न प्रकारकी अनुभूतियोंको व्यक्त करनेके लिए ही उसमें साहित्यके कई रूपोंका प्रयोग हुआ है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस शिल्प-विधिमें अभी काफ़ी परिष्करणकी आवश्यकता है।

उपन्यासकी अपेक्षाकृत एक पुरानी शिल्प-विधि—आत्मकथात्मक शैली-के कई नवीन रूप नये हिन्दी कथा-साहित्यमें देखनेको मिलते हैं। 'खाली-कुर्सीकी आत्मा'का कथा-विधान इस ढंगका एक सशक्त प्रयोग है। जिस प्रकारसे आधुनिक आत्मकथाओंमें चरितनायक प्रधान न होकर उनका युग अधिक प्रधान हो गया है, उसी प्रकारसे आत्म-कथात्मक उपन्यासमें भी नायक एक माध्यम-मात्र है, मानव जीवनके कुछ पक्षोंको संवेदित करनेके लिए। आत्म-कथात्मक उपन्यासका एक अन्य पक्ष विकसित हुआ है, जिसमें कथाका नायक अपने श्रोता या पाठकको अपना निकट विश्वासपात्र बनाता है, और उसे एक सक्रिय सहभोगीके रूपमें ग्रहण करता है। 'बाहर-भीतर' इस आधुनिकतम शिल्प-विधानका एक अच्छा उदाहरण है। इस संदर्भमें उपन्यासका प्रारंभिक परिच्छेद विशेष रूपसे उल्लेखनीय है, और अंतमें भी इस प्रारंभके निर्वाहका ध्यान रक्खा गया है।

संवद्ध कलाओंसे गृहीत शिल्पोंमें सिनेरियो शिल्प आंशिक या पूर्ण रूपसे नये कथाकारोंमें कुछ अधिक प्रिय हुआ है। 'सोया हुआ जल' प्रारंभसे अन्त तक इसी शैलीमें लिखा गया है। पर उसके चित्र-खंडोंको

साकार करके देखनेमें हिन्दी पाठक अभी कहाँ तक समर्थ है, यह कहना कठिन है। यह लघु-उपन्यास हिन्दी कथा-साहित्यमें पाठकके बढ़ते हुए सहभोगका द्योतक है। पर उसका यह दायित्व सिनेरियो शिल्पमें और भी अधिक बढ़ जाता है, जहाँ कि वह मुद्रित पृष्ठको चलचित्रके रूपमें देखनेका यत्न करता है।

नये कथा-शिल्पके विकासमें पाठकके सहभोगकी भावना अधिक मुखर हो रही है। इस सन्दर्भमें अभी उसकी स्थिति एकदम नयी कविता जैसी तो नहीं है, पर वह अपने पाठकको पहलेकी अपेक्षा अधिक निकट पा रहा है, प्रायः 'डूबते मस्तूल' की नायिका रंजनाके सदृश ही। अत्यन्त आवश्यक घटनाओं, पात्रों तथा स्थितियोंका वह चयन करता है। अधिकांश तथ्योंको वह पाठककी कल्पनापर छोड़ देना चाहता है। किन्तु कविताकी अपेक्षा उपन्यासमें पाठक इस आत्मीयताकी भावनाका प्रतिदान अधिक आसानीसे दे पाता है, क्योंकि गद्यमें इस सीधे सम्बोधनकी सम्भावना और शक्ति कहीं अधिक है। प्राचीन साहित्य-शास्त्रके साधारणीकरण-के सिद्धान्तकी अपेक्षा आधुनिक कविता और कथा-साहित्यमें पाठकके इस सहभोगकी स्थिति समूचे काव्य-व्यक्तित्वको अधिक पुष्ट और विकसित करती है। साधारणीकरणकी अनुभूति बहुत कुछ निष्क्रिय हो सकती है, पर सहभोगमें एक अनिवार्य सक्रियताकी भावना है।

पर अपने नवीन विकासोंके बावजूद हिन्दीके नये कथा-सहित्यमें पाठक-के सक्रिय सहभोगके स्थानपर शिल्पगत वैचित्र्य ही अधिक प्रधान है। जैसा पहले भी कहा गया, शिल्पके क्षेत्रमें प्रयोग अपेक्षाकृत आसानीसे हो सकते हैं। आवश्यकता इस बातकी है कि मानव जीवनके आत्मीय प्रसङ्गों-मेंसे नये प्रकारके कथानक लिये जायँ। कथानक और अनुभूति सम्बन्धी प्रयोग भले ही उतने क्रान्तिकारी न हो सकें जितने शिल्पके हैं, पर वे निश्चय ही अधिक सशक्त तथा स्थायी महत्त्वके सिद्ध होंगे। नवलेखनके कथा-साहित्यमें इस प्रकारके प्रयोग हुए हैं, पर अपेक्षाकृत कम। 'चाँदनीके

खँडहर', 'तन्तुजाल', 'नागफनीका देश', 'काले फूलका पौदा', 'बाहर-भीतर' और 'बूँद और समुद्र' के नाम इस दृष्टिसे उल्लेखनीय हैं। शिल्पका कौशल साधारणको असाधारण बना देनेमें है, जब कि आधुनिक कथानक असाधारणको भी साधारण रूपसे ही प्रस्तुत करना चाहता है, जो अधिक कठिन है। पर यह सच है कि परम्परासे विहीन प्रयोग करनेवाले हिन्दीके नये कथा-साहित्यकी वास्तविक दिशा यही है, अन्यथा केवल शिल्प सम्बन्धी नवीनताएँ अन्धी गलीकी ओर ले जानेका प्रयास हैं। आधुनिकताके सन्दर्भ-में और अपने समूचे इतिहासके सन्दर्भमें नवलेखनके कथा-साहित्यको उसके सही परिप्रेक्ष्यमें स्थापित करनेके लिए यह आवश्यक है कि मानवीय संवेदनाओंका अन्वेषण तथा पुनरन्वेषण हो। उससे संपृक्त नया शिल्प तो अपने आप उभरेगा। प्रयोग और परम्पराकी अधिक संघटित भाव-भूमिमें ही हिन्दीका उपन्यास आगे बढ़ सकेगा।

नयी हिन्दी-कहानीकी स्थिति उपन्याससे भिन्न है, यद्यपि हिन्दी-नव-लेखनके प्रसंगमें नयी कविता और नयी समीक्षाकी तुलनामें दोनों ही पिछड़े रूप हैं। कहानीमें किसी भी दिशामें महत्त्वपूर्ण प्रयोग प्रायः नहीं हुए हैं। इसका एक कारण कदाचित् यह हो सकता है कि वह अपने आपमें एक नया साहित्य-रूप है। और हिन्दी-नवलेखनके प्रसंगमें तो उसका इतिहास कुल पचास वर्षोंका है। अपेक्षाकृत नये साहित्य-रूप होनेके कारण उसमें विकास तथा प्रयोगकी सम्भावनाएँ कम हैं। और दूसरी ओर यह साहित्य-रूप इतना नया भी नहीं है कि उसमें आधुनिक सन्दर्भों और संवेदनाओंकी सही-सही अभिव्यक्ति हो सके। नये और पुरानेके बीच इस माध्यमकी स्थिति कुछ अजब-सी है। प्रायः सभी उन्नत-साहित्योंमें वह लोकप्रिय तो है, पर आधुनिक नहीं।

कहानीके अकालिक होनेका एक दूसरा कारण भी है। कहानीका जन्म

मुख्यतः मनोरंजनकी उद्देश्य-पूर्तिको ध्यानमें रखकर हुआ। किन्तु आधुनिक युग और साहित्य अपनी समग्र प्रकृतिमें प्रधानतः बौद्धिक हैं। इस दृष्टिसे कहानीका रूप-गठन ही आधुनिक संवेदनाका विरोधी है, या कम-से-कम उसके अनुकूल नहीं है। कथा-साहित्यमें जिस रचना-दृष्टि या 'विज़न' की प्रधानता होती है, वह उसके माध्यमसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, कुछ तो उसके आकारके कारण और कुछ उसकी स्फुट प्रवृत्तिके कारण। इसीलिए कहानी एकाङ्की नाटकके समान यद्यपि इण्डो-यूरोपियन देशोंमें लोकप्रिय है, पर वह नवलेखनका अंग नहीं बन सकी है। आधुनिक युगके प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण कथाकारोंने कहानियाँ लिखी हैं—सार्त्रने, कामूने, हेमिंग्वेने, पर उनका यश इन कहानियोंके कारण नहीं है। या जिन कथाकारोंकी कहानियाँ प्रख्यात हैं, जैसे सोमर्सेट मॉम या ओ, हेनरीकी, उन्हें नवलेखनके अन्तर्गत नहीं रक्खा जाता।

हिन्दीमें कहानियोंके क्षेत्रमें प्रयोगकी संभावनाओंके कम होनेका एक और भी कारण है। जिन व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओंने कहानियोंके मुख्य तत्त्व मनोरंजनको एक दम सस्ता और वासनात्मक बना दिया, उन्हें इस प्रदेशमें काफ़ी लोकप्रियता मिली। प्रणयकी विषम सामाजिक परिस्थितियों और अशिक्षा तथा अर्द्ध-शिक्षाकी वजहसे एक दम छिछले स्तरका मनोरंजन जनताके अधिक निकट सिद्ध हुआ। और इस एक विशेष प्रकारकी कहानी-कलाने हिन्दी कहानीके उन्मुक्त मार्गमें अवरोध उत्पन्न कर दिया। इन व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओंके समक्ष हिन्दीके वास्तविक कहानीकार कम टिक सके और धीरे-धीरे व्यापक समाजमें इन कम मूल्य वाली, सस्ती पत्रिकाओंका बोलवाला हो गया। इस दृष्टिसे उच्च साहित्यिक स्तरके कहानीकारोंका पाठक-वर्ग नितांत सीमित हो गया, और किसी प्रकारके प्रोत्साहनके अभावमें कहानीकारने या तो लिखना बन्द कर दिया या फिर उसने भी फ़ॉरमूला-कहानियाँ लिखना प्रारम्भ कर दीं। यही कारण है कि प्रेमचन्दके बाद जैनेन्द्र ('पत्नी', 'जाह्नवी') और 'अज्ञेय' ('रोज़')

के शिल्पमें जो नवीन विकास' दिखाई दिये थे, हिन्दीका कहानी-साहित्य उनसे आगे नहीं बढ़ सका।

हिन्दीकी नयी कहानीने प्रयत्नपूर्वक दो-एक दिशाएँ ग्रहण कीं। चमत्कृत शिल्प और ओहैनरियन ढंगकी कहानियाँ कमल जोशीने लिखीं। लक्ष्मीनारायणलाल, केशवप्रसाद मिश्र, फणीश्वरनाथ 'रेणु', मार्कण्डेय, शिवप्रसादसिंह आदिने कहानीके आंचलिक रूपको उभारा। इसके अतिरिक्त राजेन्द्र यादव और मोहन 'राकेश' ने नागरिक-जीवनके कुछ पहलू प्रस्तुत किये। पर ये कथाकार कहानीकी आंतरिक प्रकृतिको कोई मोड़ नहीं दे सके। रघुवीरसहायने अवश्य इस क्षेत्रमें महत्त्वपूर्ण प्रयोग किये हैं। उनकी 'सेव', 'लड़के' या 'खेल' जैसी कहानियाँ नये साहित्यकी भावभूमिके काफ़ी निकट हैं। सहजतम और सूक्ष्मतम संवेदनाओंके चित्र उन्होंने बड़े आत्मीय ढंगसे अंकित किये हैं। इन कहानियोंमें जीवनका उल्लास, उद्वेग बिना किसी साहित्यिक अतिरंजनाके प्रस्फुटित हुआ है। यद्यपि लेखककी कहानियाँ संख्यामें अधिक नहीं हैं, पर कहानी जैसे सुस्थिर माध्यममें उसके ये सर्वथा नये प्रयोग ऐतिहासिक महत्त्वके हैं। कुछ इसी प्रकारके यत्न मनोहरश्याम जोशी ('उसका विस्तर') ने भी किये हैं।

नयी कहानीके क्षेत्रमें मौलिक प्रयोग करनेवालोंमें दूसरा उल्लेखनीय नाम कमलेश्वरका है। कहानी कमलेश्वरका प्रधान कार्य-क्षेत्र भी रहा है। 'राजा निरबंसिया' (१९५७ ई०) और 'कस्बेका आदमी' (१९५७ ई०) में संकलित उनकी कहानियाँ कुछ नवीन भावभूमियों और शिल्पविधियोंको प्रस्तुत करती हैं। 'सुबहका सपना' और 'राजा निरबंसिया' जैसी रचनाएँ हिन्दीकी नयी कहानीमें 'नयी' विशेषणको कुछ सार्थक बनाती हैं। पर इसके बावजूद प्रथम कहानी-संकलनकी भूमिकामें लेखकने समीक्षकोंसे जो शिकायत की है, वह न्याय्य नहीं मानी जा सकती। नयी कहानी कही जाने-वाली अधिकांश रचनाएँ तो जैनेन्द्र और 'अज्ञेय' के बाद पीछे प्रेमचंदकी तरफ अधिक झुकी हुई हैं।

हिन्दीकी 'नयी' कहानी मुख्यतः दो प्रकारके लेखकों द्वारा प्रस्तुत हो रही है। कुछ कहानीकार तो लगभग प्रयोगवादके समकालीन हैं और इस क्षेत्रमें प्राय: छिटपुट ढंगसे प्रयोग कर रहे हैं। यहाँ प्रभाकर माचवे-की 'पहली अप्रैल', धर्मवीर भारतीकी 'गुलकी बन्नो' या केशवचंद्र वर्माकी 'काले डिब्बोंकी चरखी' विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। माचवेकी कहानीका सर्वथा अछूता शिल्प और केशवकी रचनाकी हास्य अवसाद मिश्रित संवेदना हिन्दी कथा-साहित्यकी उपलब्धि है। शांति मेहरोत्राकी कुछ कहानियाँ भी नयी भाव-भूमिको छूनेमें सफल हुई हैं। द्विजेन्द्रनाथ मिश्र 'निर्गुण' के स्तरके कहानीकार हिन्दीमें कम ही हुए हैं। विशेष परि-स्थितियों और संदर्भोंके कारण उनकी प्रतिभाकी नयी दिशाएँ नहीं देखी जा सकीं, यह हिन्दी कहानीका दुर्भाग्य ही माना जायेगा। प्राचीन शिल्प-का अनुकरण करनेवाली उनकी कहानी 'रावण' मानवीय संवेदनाका एक गंभीर आख्यान है। रघुवंशने यद्यपि इधर कहानियाँ नहीं लिखीं, पर उनके 'छायातप' संकलन और साप्ताहिक 'संगम' में प्रकाशित कहानियोंका एक अपना व्यक्तित्व रहा है। भारतीय सामाजिक जीवनके केन्द्र विन्दु परिवार-का अत्यंत सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन उनकी कहानियोंमें द्रष्टव्य है।

दूसरे वर्गके नये कहानीकारोंमें कुछ प्रतिभाएँ ध्यान आकृष्ट करती हैं। ओंकारनाथ श्रीवास्तव, अमरकान्त, शेखर जोशी, मालती परुलकर, मुद्राराक्षस, कृष्णा सोबती, मन्नू भण्डारी, सैयद शफ़ीउद्दीन तथा शान्ता सिन्हाकी कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओंमें बराबर निकलती रहती हैं। कुछके संकलन भी प्रकाशित हुए हैं। कहानीके कई नये रूप मुद्राराक्षस, शफ़ी-उद्दीन तथा शान्ता सिनहाकी रचनाओंमें प्रतिफलित हुए हैं। यदि इस प्रकारके कुछ प्रयोगोंको निश्चित दिशा मिल सके तो हिन्दीकी नयी कहानी शायद उभर सकेगी, चाहे वह फिर उतनी आधुनिक भले ही न हो जितने साहित्यके कुछ अन्य रूप हैं।

हिन्दीकी व्यंग कहानीमें कुछ नवीनता लानेका यत्न शिक्षार्थी, केशवचन्द्र वर्मा तथा हरिशंकर परसाई द्वारा हुआ है।

कुल मिलाकर हिन्दीका नया कथा-साहित्य आधुनिक सन्दर्भोंसे अलग जान पड़ता है। नयी कविता या नये साहित्य-चिन्तन जैसी आधुनिकता उसमें नहीं आ पाई है। उपन्यासमें कुछ प्रयोग हुए हैं, पर सशक्त परम्पराके अभावमें उनकी संगति और सार्थकता स्पष्ट नहीं हो सकी। कहानीमें प्रयोग एक तो प्रकृत्या संभव कम हैं, और दूसरी ओर हिन्दी कहानीके सीमित इतिहासके सन्दर्भमें उनकी संभावना और भी कम हो गई। इस दृष्टिसे नया कथा-साहित्य नवलेखनका अपेक्षाकृत पिछड़ा हुआ अंग है, क्योंकि आधुनिकताके लक्षण तो सभी साहित्य-रूपोंमें एकसे ही होने चाहिए।

नाटककी चर्चा

[व्यक्तित्व-संघटनकी चिन्ता]

○

हिन्दी-नवलेखनके तत्त्वावधानमें नाटक कम लिखे गये हैं, उनकी चर्चा-सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अधिक हुई है। एकाङ्कीके कारण भी सम्पूर्ण नाटकके विकासको क्षति पहुँची है। पर नये नाटक संख्याकी दृष्टिसे चाहे जितने कम लिखे गये हों, उनकी आधुनिकता निर्विवाद है। नाटक आधुनिक युगीन संवेदनाको व्यक्त करनेके लिए सबसे उपयुक्त और सशक्त माध्यम है। फ्रेंच (सार्त्र, कामू, आनुई), जर्मन (ब्रेख्ट), अँग्रेजी (आॅस्बर्न) तथा अमेरिकन (टैनेसी विलियम्स, आर्थर मिलर) नाट्यकार तथा उनकी कृतियाँ अपने समूचे साहित्यके संदर्भमें प्रायः सर्व प्रमुख हैं। आधुनिक युगकी जटिल, अर्द्ध-अनुभूत और अननुभूत संवेदनाओंकी अभिव्यक्तिके लिए नाटक जैसा उपयुक्त अन्य साहित्य-रूप नहीं है।

नाटककी बात करते समय यह स्मरणीय है कि हिन्दीमें नाट्यालेख या स्क्रिप्ट लिखनेकी परम्परा अधिक रही है, नाटक लिखनेकी कम। हिन्दीमें नाटककी परम्परा संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंशसे प्रायः अविच्छिन्न रूपसे आई है, पर हिन्दीके नाटक अपनी प्रकृतिमें मध्ययुगीन ही बने रहे। थिएटरका तो हिन्दी-साहित्यमें लगभग पूर्णतः अभाव रहा है। इसके दो मुख्य कारण हैं—किसी व्यवस्थित साहित्यिक रंगमंचकी कमी और एकांकी नाटकोंका प्रचार और प्रसार। इन सब परिस्थितियोंके कारण प्रसादके बाद पूर्ण नाटक लिखना प्रायः समाप्त हो गया। एक प्रकारसे प्रसाद हिन्दीके प्रथम तथा अन्तिम नाटककार होकर रह गये।

हिन्दी नवलेखनके तत्त्वावधानमें नाटकको पुनरुज्जीवित करनेके प्रयास कई दृष्टियोंसे हुए। नाटकको उसका रंगमंच प्रदान करनेकी चेष्टा की गई, पूर्ण नाटककी मर्यादाका निर्वाह ध्यानमें रक्खा गया और नाटकके आधुनिक आयाम भी विकसित किये गये। यह सही है कि इस प्रकारके नाटक नवलेखनमें चार-छः ही हैं, पर उनसे इन नये नाटककारोंकी जागरूकता स्पष्ट हो जाती है। और रंगमंच प्राप्त कर लेनेपर यदि किसी युगमें दो-चार नाटक भी सफल लिखे जायें तो भी पर्याप्त हैं। अपने कुल— तीन नाटकों और उनमेंसे भी प्रधानतः एक ही नाटक 'लुक बैक इन एंगर' द्वारा जॉन ऑस्बर्नने कई दशाब्दियोंसे चले आने वाले अंग्रेज़ी नाट्य साहित्यके गत्यवरोधको दूर कर दिया।

हिन्दीके नये नाटकको एक आधुनिक और सशक्त रूप देनेमें लक्ष्मीनारायणलाल (१९२७ ई०) का विशिष्ट योग रहा है। उनका नाटक 'मादा कैक्टस' (१९५७ ई०) इस क्षेत्रमें प्रमुख माना जा सकता है। प्रणयके जिस सहज, सरल रूपका चित्रण अज्ञेय, देवराज और रघुवंशने क्रमशः 'शेखर', 'पथकी खोज' तथा 'तन्तुजाल'में किया है, उसका एक दूसरा पहलू 'मादा कैक्टस'में अंकित हुआ है। कलाकारका वायवीय प्रेम सामान्य स्नेह-सम्बन्धोंसे अलग है क्योंकि उसका प्रधान दायित्व अपने व्यक्तित्व तथा अपनी कलाके प्रति हो जाता है। एक ओर प्रणय और दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व तथा अपनी कलाके बीच चित्रकार अरविन्द किस प्रकारसे अपनी पत्नी सुजाता और मित्र तथा शिष्य आनन्दाके जीवनको निस्सार तथा निरर्थक बना देता है, इसका मार्मिक अंकन 'मादा कैक्टस'में हुआ है। अरविन्दका विश्वास है कि जैसे 'मादा कैक्टस'के सम्पर्कमें आनेपर नर कैक्टस सूख जाता है, रसविहीन हो जाता है, उसी तरहसे किसी स्त्रीके निकट सम्पर्कमें कलाकारकी कला निष्प्राण हो जाती है। इस सन्दर्भमें मादा कैक्टसका प्रतीक जितना आधुनिक है उतना ही यथार्थ भी।

लालके इस नाटकका समूचा वातावरण बौद्धिक आभिजात्यका है, जिससे कथानककी मूल संवेदना बराबर सुनियोजित रही है। व्यक्तित्वको संघटित बनाये रखनेकी चिन्ता आधुनिक है। परन्तु अरविन्द नारी सम्पर्कको मूल व्यक्तित्वके ऊपर आरोपित मानता है, और इसीलिए उसे अवांछनीय समझता है। कलाकारके सतही दृष्टिकोणसे उद्भूत कृत्रिमता आनन्दाके जीवन-रसको सोख लेती है, मादा कैक्टस सूख जाती है। वनस्पति शास्त्रकी इस जनश्रुतिको मानवीय सन्दर्भोंमें उल्टा सिद्ध करके नाटककारने मानो प्राणिजगत्की संवेदनशीलताको वैज्ञानिक पद्धतियोंसे भिन्न ठहराया है। व्यक्तित्वकी सम्पूर्णतामेंसे नारीको अलग हटाकर अरविन्दने जिन प्राकृतिक शक्तियोंकी अवहेलना की है, वे नाटककारकी दृष्टिसे अनिवार्य अतः स्वीकार्य हैं। डी० एच० लॉरेंसके जीवनके अन्तिम भागको चित्रित करनेवाले टैनेसी विलियम्सके प्रसिद्ध लघु नाटक 'आई राइज़ इन फ़्लेम्स, क्राइड द फ़ोनिक्स'में भी कुछ इसी प्रकारकी समस्या उठाई गई है। लॉरेन्स तो नारीको शायद मांस-पिंडके अतिरिक्त और कुछ मानता ही न था, पर अरविन्दका दृष्टिकोण इसका विरोधी है। उसके अनुसार 'किसी स्त्री पुरुषके सम्बन्धमें व्याहसे भी बड़ी कोई चीज़ होती है।' ये दोनों ही दृष्टियाँ जीवनको अधूरा ग्रहण करती हैं। सम्पूर्णताकी व्यंजना अरविन्द और बेबीके बीचमें है। ये दोनों ही चरित्र एक दूसरेके एण्टी-थीसिस हैं।

रंग-विधान और शिल्पकी दृष्टिसे 'मादा कैक्टस' आधुनिक नाट्य-पद्धतियोंके काफ़ी निकट है। नीलामकी डुगडुगीके साथ बेबीका मंचपर प्रवेश नाटककी प्रतीक-योजनाको एक गति देता है, जो अन्त तक अनवरुद्ध रहती है। अन्तमें आनन्दाके फेफड़ोंके चित्रको जिस ढंगसे प्रस्तुत किया गया है, वह काफ़ी प्रभावपूर्ण है। यहाँ लेखकका विधान कुछ चमत्कृत करनेवाला अवश्य है, पर उससे नाटककी स्वाभाविक परिणतिमें कोई बाधा नहीं पहुँचती। पहले अंकमें अनाथालयके बच्चोंका प्रवेश अरविन्दके

व्यक्तित्वपर एक 'कमेंट' करता है। शिल्पके ये सारे उपकरण बड़े प्रभावपूर्ण ढंगसे प्रयुक्त हुए हैं, और नाटककी योजनाके अभिन्न अंग हैं। संगीत और प्रकाशके निर्देश पठित नाटककी कल्पनामें कुछ-न-कुछ जोड़ते ही हैं।

अधुनातन नाट्य-विधानमें घटनाओंके स्थानपर संवेदनोंको अधिक महत्त्व दिया गया है, पर कुछ नाटक ऐसे भी हैं जो घटनापूर्ण होते हुए भी प्रकृतिमें एकदम नये हैं; जैसे ऑस्बर्नका 'लुक बैक इन एंगर'। लालका 'मादा कैक्टस' भी कुछ इसी प्रकारका है। इस दृष्टिसे उनकी नाट्य-शैली प्रख्यात आधुनिक नाट्यकारोंसे भिन्न है। पर हिन्दीमें संवेदन-प्रधान नाटक लिखनेमें अभी कई कठिनाइयाँ हैं—मुख्यतः भाषा तथा अनुभूतिगत वैभिन्न्यसे संबद्ध। मनोविज्ञानके अन्तरालोंका उतना साहसिक अनुभावन हिन्दीमें अभी सम्भव नहीं जितना फ्रेंच, जर्मन या अमेरिकन नाट्य-कृतियोंमें मिलता है।

हिन्दीके नये नाटकोंके क्षेत्रमें नरेश मेहताका 'सुबहके घण्टे' (१९५६ ई०) विशेष महत्त्व रखता है। इस नाट्य कृतिमें भी व्यक्तित्वकी सम्पूर्णताका चिन्तन हुआ है पर अपेक्षाकृत एक भिन्न और अधिक व्यापक स्तरपर। 'मादा कैक्टस'का अरविन्द और 'सुबहके घण्टे'का एमन दोनों ही कलाकार हैं, और दोनोंके सम्मुख अपने व्यक्तित्वके संघटनका प्रश्न है। पर अरविन्दकी अपेक्षा एमनकी दृष्टि अधिक पूर्ण और समग्र है। अरविन्दके सामने केवल नारी, प्रणय और कलाकी समस्या है, जबकि एमन इनके अतिरिक्त और शायद कुछ उससे भी ऊपर उठकर राजनीति, सामाजिक व्यवस्था और नैतिक पद्धतियोंकी भी चिन्ता करता है।

'सुबहके घण्टे' मूलतः समसामयिक राजनीतिक जीवनका एक संपृक्त चित्र है। परन्तु नाटककारकी राजनीतिक दृष्टि इस कृतिमें पक्षधर नहीं है। स्वतः राजनीतिके भावको ही एक व्यापक धरातलपर प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टिसे सैद्धान्तिक संघर्ष और कशमकशके बीच एमनका चरित्र एक संघटित

व्यक्तित्व है। वह कम्यूनिस्ट पार्टीका सदस्य है, पर पार्टीको उसने अपने चिन्तनकी स्वाधीनतां नहीं बेच दी है। अपनी बातको वह खुलकर कहता है, और अपने सहयोगियोंको प्रभावित भी करता है। दक्षिणा उसकी मित्र, प्रेयसी, पत्नी है, जिसके सम्मुख उसकी विनोदप्रियता और भी मुखर होती है। क्रान्तिकारी और समाजवादी होते हुए भी वह प्रधानतः मानव-वादी है। जगजीतके यह कहनेपर कि 'यह राजनीति है। एवरी थिंग इज़ फ़ेयर इन लव एण्ड वार' वह उत्तर देता है, 'नो, माइ ब्वाय, लाइफ इज़ नॉट पॉलिटिक्स बट एथिक्स। मेरे लिए जीवन पूजा है, प्रत्येक व्यक्ति देवता है।' एमनके ये वाक्य कोरे तत्त्व-दर्शन न होकर जीवनके कटु संघर्षोंकी पृष्ठभूमिमें कहे गये हैं, इसीलिए उनकी संगति और सार्थकता है।

आधुनिक भारतीय जीवनमें मार्क्सवाद और साम्यवादको लेकर काफ़ी तर्क-युद्ध हुए हैं। 'सुवहके घण्टे'का लेखक साम्यवादी सिद्धान्तोंसे सहानुभूति रखते हुए भी विवेक-बुद्धि और मानवीय आस्थाको सबसे ऊपर रखता है। क्रान्तिकारी और साम्यवादी आन्दोलनका नरेश मेहताने इस नाटकमें बड़ा सन्तुलित अध्ययन प्रस्तुत किया है। एमनकी वैयक्तिक स्वाधीनता पार्टी अनुशासनसे बहुत ऊपर है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्रामकी अन्तिम लड़ाईके सन्दर्भमें एमनका विद्रोह मानवीय और ऐतिहासिक है। एमन और दक्षिणाका एक संवाद इस प्रकार है—

दक्षिणा—यह क्या किया आपने ?

एमन—कुछ नहीं दक्षिणा ! गौतमके लिए जीवन दुःख था; मार्क्सके लिए वर्ग-क्रान्ति और गांधीके लिए उपवास !—ये सब आंशिक सत्य हैं दक्षिणा ! गांधीवादियोंके अपने साँचे हैं तो कम्यूनिस्टोंके भी साँचे हैं। इन्हें अपने ही अनुरूप लोग चाहिए—ये लोगोंके अनुरूप नहीं होना चाहते। मार्क्सने इतिहासके आधारपर नीति बनाई थी। ये नीतिके माध्यमसे इतिहास बनाते हैं।

दक्षिणा—मार्क्सवाद कोई डॉग्मा नहीं, वह परिवर्त्तनशील जीवन-दर्शन है।

एमन—यही तो चीनमें माओने सिद्ध किया है, किन्तु हमारे यहाँ.... अपनेसे बाहरके निरीक्षणोंको भी सच्चे कम्यूनिस्टको समेटना होगा और यह चीनवाले तभी कर सके, जब वे पहले चीनी बने। हम कम्यूनिस्ट भारतीय नहीं हैं। यहाँकी परम्परा और संस्कृतिको वैज्ञानिक दृष्टि हमने नहीं दी। इस अर्थमें गांधी भारतीय राजनीतिके गुरु हैं। साहित्यकार दत्तात्रेय होता है दक्षिणा! वह कई गुरुओंका एक साथ शिष्य हो सकता है, लेकिन राजनीति असहिष्णुओंका दल होता है।

'रिवीज़निज़्म' के वर्त्तमान युगमें एमनकी यह दृष्टि बड़े महत्त्वकी है। सत्यको सम्पूर्ण, समग्र दृष्टिसे देखनेकी लेखककी यह सतत चेष्टा नवलेखनकी अपनी विशेषता है। इसीलिए उसके तत्त्वावधानमें अन्वेषण तथा पुनरन्वेषणकी प्रक्रिया बराबर चलती रहती है। एमन चिन्तक और अपने तईं ईमानदार है। वह दो पक्षोंके बीचके मध्यम मार्गको नहीं खोजता, वरन् अपनी निजी स्थितिको स्पष्ट करता है। पक्षोंके शीत-युद्धके प्रसंगमें उसकी विधेयात्मक दृष्टि चिन्तनकी नयी दिशाओंकी सूचक है, और संघर्ष तथा तनावको शान्त करनेमें काफ़ी हद तक सफल है।

'सुबहके घण्टे' का प्रायः पूरा कथा-भाग फ़्लैशबैककी शैलीमें प्रस्तुत किया गया है। फाँसीके लिए प्रस्तुत एमन अपने जीवनकी अन्तिम रात और सुबहमें अपने अतीतका जो पर्यवेक्षण करता है उसीको नाटकमें कई टुकड़ोंमें बाँटा गया है। यह फ़्लैशबैककी काफ़ी स्वाभाविक स्थिति है, तथा शिल्पकी यह पद्धति कथानककी माँग है। बीच-बीचमें एमनकी तन्मयता भङ्ग होनेपर वर्त्तमानके अन्तराल आ गये हैं जिनसे पाठकका भावात्मक तनाव कुछ विश्राम पा लेता है। राजनीति, प्रणय, लेखककी विपन्नता, भाषाकी समस्या—मानव-जीवनकी इन विभिन्न स्थितियोंको एक रागात्मक तटस्थताके साथ नरेश मेहताने अंकित किया है, और इसीलिए नाटक

घटनाओंसे भरपूर होनेपर भी संवेदनोंकी प्रधानता बनाये हुए हैं। व्यक्तित्व और उसके सुरक्षाकी चिन्ताके आधुनिक आयामोंको उसके प्रायः सभी संदर्भोंमें 'सुबहके घण्टे' में अभिव्यक्ति मिली है। नाटकका बौद्धिक आभिजात्य सुखद और जीवन्त है।

लक्ष्मीकान्त वर्माका 'आदमीका ज़हर' (१९५७ ई०) सम्पूर्ण नाटक और एकाङ्कीके बीचकी स्थिति है। और यह संयोग विलक्षण लग सकता है, पर 'मादा कैक्टस' तथा 'सुबहके घण्टे' के समान ही यह नाटक भी एक कलाकारके व्यक्तित्व-संघटनकी चिन्ताका आख्यान है। नाटकका नायक शरन यद्यपि कथा-भागमें अपेक्षाकृत कम स्थान पा सका है, पर अन्य सभी पात्रोंके द्वारा वह विस्तारमें अङ्कित हुआ है। और शरनका ही प्रतिरूप महिम है, जो 'नाटकमें नाटक' की नयी शैली द्वारा बड़े प्रभावपूर्ण ढङ्गसे प्रस्तुत किया गया है। कलाकारके ये दोनों प्रतिरूप आर्थिक विषमता और तिरस्कारके बीच अपने व्यक्तित्वको सँजोये रखनेकी चेष्टा करते हैं। इस चेष्टाको उसकी सारी उदात्तता और अवशताके साथ लक्ष्मीकान्तने 'आदमीका ज़हर' में चित्रित किया है।

लेखककी मौलिक प्रकृतिके अनुरूप ही 'आदमीका ज़हर' सैटायर प्रधान कृति है। मनुष्यकी क़ीमतपर पशुकी चिन्ताकी जो प्रवृत्ति धीरे-धीरे आधुनिक सभ्यतामें प्रवेश कर रही है, उसपर एक तीखी परन्तु संयमित दृष्टि इस नाटककी मूल कथा-स्थिति है। समूची कृति इसी विशिष्ट संवेदनापर आधारित है, जिसके विभिन्न पक्ष बड़े तीव्र ढङ्गसे अभिव्यक्त हुए हैं। मानवीय व्यक्तित्वमें आस्था तथा निष्ठा उसकी प्रधान दृष्टि है जो शरनके साथियोंके सतही मानववादके सन्दर्भमें और भी स्पष्टतासे उभरी है। तितिक्षा और आस्थाका बड़ा प्रभावपूर्ण समन्वय 'आदमीका ज़हर' में हुआ है। सैटायरकी यह नयी परिणति लक्ष्मीकान्तकी अपनी विशेषता तो है ही, साथ ही समस्त नवलेखनकी अन्तर्वर्त्ती दृष्टि भी है। नये लेखकके व्यक्तित्वमें एक झुँझलाहटकी भावना है, पर कड़ुआपन या निराशा नहीं है। वह

छिछले मूल्यों और मानदण्डोंपर आक्रमण करता है किन्तु अपना सन्तुलन खोकर नहीं। इसीलिए उसमें हठवादिता या पक्षधरता नहीं है।

लक्ष्मीकान्तके समक्ष व्यक्तित्वकी सुरक्षाका प्रश्न एक दूसरे ढंगसे आता है। शरनके लिए अपने व्यक्तित्वकी ही समस्या प्रमुख नहीं है। वह तो जीवनके समस्त मूल्यों और प्रतिमानोंको लेकर चिन्तित है। 'पशु रक्षिणी समिति'का संयोजक होते हुए भी वह ज़हरीले और पागल आदमीको अपने यहाँ शरण देता है। अपने साथियोंकी दृष्टिमें वह इसीलिए बेज़िम्मेदार और लापरवाह है। कुत्तेको काट लेनेवाले आदमीकी अवश और दीन मन:स्थिति आजके युगका एक बड़ा सत्य है जिसे लेखकने बड़ी मज़बूतीसे पकड़ा है। कुत्तेके लिए शरनके मनमें चिन्ता हो सकती है, पर आदमीको तो वह सारी जोखिम उठाकर बचाना चाहता है। यह मूल्योंकी प्राथमिकताका प्रश्न है।

मूल्यगत चिन्तन, सूक्ष्म संवेदन और शिल्प—इन सभी दृष्टियोंसे 'आदमीका ज़हर' आधुनिक नाटकका निकटतम रूप है। 'नाटकमें नाटक' पद्धतिके प्रयोगसे समूची कृतिके आयाम मानो और भी गहरे हो गये हैं। शरनके चरित्रकी एक अधिक गहरी और सूक्ष्म संवेदना महिममें मिलती है। दोनों चरित्र एक अविभाज्य व्यक्तित्वके अंग हैं। शरनका साहित्यिक व्यक्तित्व उसके रेडियो नाटक 'टूटा आदमी'में व्यक्त हुआ है। शरन-महिमका समूचा व्यक्तित्व समाजमें आदमीका ज़हर फैलनेकी महत्त्वपूर्ण चेतावनी देता है। जिस समाजमें 'पशु रक्षिणी समिति'की स्थापना होती है, उसमें अभी आदमीके मूल्यांकन संबंधी धारणाओंमें परिवर्त्तन होनेकी आवश्यकता है। अन्तराल नाटकके टुकड़े इस स्थितिको और अधिक प्रभावपूर्ण बनाते हैं। इन अंशोंमें सैटायर बिलकुल नहीं है, एक गम्भीर करुणा है। मूल नाटकके व्यंगके साथ यह करुणा व्यक्तित्व-संघटनके प्रश्नको और अधिक यथार्थ तथा मानवीय बना देती है। महिमकी गिरी हुई आर्थिक स्थिति वर्ग-संघर्षकी भावनासे अधिक आत्म-बोधको जाग्रत करती है।

'आदमीका ज़हर' यहीं एक सफल कलाकृति होनेके वाद एक महत्त्वपूर्ण 'डौकूमेंट' भी हो जाता है। किसी शताब्दीकी सभ्यता और संस्कृतिमें पशु और मानवके बीच इतनी अधिक प्रतिद्वन्द्विता हो गई थी, यह इस नाटकसे सहज ही जाना जा सकेगा। 'आदमीका ज़हर' और उसका कुत्तेको काट लेना कबीरकी उलटबाँसी नहीं है, किसी हद तक वह प्रतीक और अतिशयोक्ति भी नहीं है। वह एक यथार्थ स्थितिका अनुभावन और उद्घोष है, मूल्यगत विघटनका महत्त्वपूर्ण संकेत है। ज़हरीला आदमी और पागल कुत्ता आधुनिक सभ्यताके प्रतिमानोंको स्पष्ट करते हैं। उन्हें केवल प्रतीक कहकर टाल देना एक वड़े सत्यकी ओरसे आँख मूँद लेना होगा।

हिन्दीके नये नाटककी कई दिशाएँ और हैं, पर इनकी संवेदन-पद्धति नवलेखनकी मूल प्रकृतिसे मेल नहीं खाती। गीति नाट्य या काव्य-नाटक गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, सिद्धनाथकुमार, भारतभूषण अग्रवाल और लक्ष्मीनारायणलालने लिखे हैं। रेडियोके माध्यमने इस काव्य-रूपको अधिक प्रभावित किया है, इसीलिए इसमें आलेखकी अपेक्षा ध्वनिका अधिक महत्त्व है। एकांकी नाटक भी वड़ी संख्यामें लिखे जा रहे हैं पर सबके सब प्रायः एक ही परम्परामें। इस क्षेत्रमें किसी महत्त्वपूर्ण प्रयोगका संकेत नहीं मिलता। सम्पूर्ण नाटक प्रायः थिएटरसे विच्छिन्न है। जब तक यह अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ा नहीं जाता तब तक नाटकके विकासकी सारी सम्भावनाएँ अवरुद्ध हैं। एकांकी आधुनिक युगका जनप्रिय काव्य-रूप अवश्य है, पर नये सन्दर्भोंसे उसकी सम्पृक्ति नहीं है। नयी संवेदनाको व्यक्त करनेके लिए नाटक सशक्त माध्यम है, और उसके पुनरुत्थानसे हिन्दी नवलेखनका एक वड़ा महत्त्वपूर्ण अंग पुष्ट होगा।

साहित्य-चिन्तनके नये स्तर

समीक्षात्मक साहित्यमें कृति-साहित्यकी अपेक्षा आधुनिकताका प्रवेश प्रायः शीघ्रतर होता है। समीक्षा या साहित्य-चिन्तन जागरूक और स्वचेतन अधिक होता है, अतः नयी पद्धतियोंका उसमें अन्तर्भाव सुगम है। कृति साहित्यके पीछे अनुभूतियों,संवेदनों और संस्कारोंकी अनिवार्य पृष्ठभूमि कार्य करती है, जिनमें परिवर्त्तन अपेक्षाकृत धीरे-धीरे होता है। इसीलिए प्रायः देखा जाता है कि एक ही लेखकका साहित्य-चिन्तन आधुनिक परिवेशमें आ जाता है, पर उसका कृति साहित्य रूढ़ियोंसे मुक्त नहीं हो पाता। कुछ तो इस कारणसे और कुछ अतीतकी विशाल तथा व्यापक पृष्ठभूमिके कारण हिन्दी नवलेखनका साहित्य-चिन्तन समृद्ध होनेके साथ-साथ काफ़ी आधुनिक है। यह सही है कि हिन्दी समीक्षाके क्षेत्रमें अभी कोई एक महत्त्वपूर्ण चिन्तक मिलना कठिन है, पर विभिन्न चिन्तन-धाराओंके सामूहिक अन्तर्भावके फलस्वरूप नयी समीक्षा पर्याप्त विकसित हो चली है।

नया साहित्य-चिन्तन न केवल किसी एक लेखकमें ही नहीं मिलता, वरन् किसी एक अकेली समीक्षा-कृतिमें भी द्रष्टव्य नहीं है। आधुनिक चिन्तन-पद्धतियाँ पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित स्फुट निबन्धोंमें अधिक विकास पा रही हैं। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि नया साहित्य-चिन्तन सैद्धान्तिक अधिक है, उन सिद्धान्तोंका व्यावहारिक प्रयोग अभी कम हुआ है। आधुनिक समीक्षा पद्धतियोंने कुछ नयी दिशाओंके द्वार खोले हैं, जैसे—कलाकारकी रचनात्मक प्रक्रियाका विश्लेषण, नवीन मूल्यों और प्रतिमानोंका विवेचन, साहित्यका इतिहास-दर्शन तथा समूची शिल्प-प्रक्रियाका विकास। इसके अतिरिक्त साहित्य, राजनीति, दर्शन

तथा समाज-शास्त्रके संयोजनसे विचारोंका साहित्य (literature of ideas) भी मुख्यत: इसी तत्त्वावधानमें पनप रहा है। इसी अर्थमें समीक्षा या समालोचनाकी पद्धतियाँ साहित्य-चिन्तनके व्यापक विस्तारके अन्तर्गत आ जाती हैं। पुस्तक-समीक्षा, काव्यालोचन, कवि-परिचय आदि इसी चिन्तनके विभिन्न अंग हैं। नये हिन्दी साहित्य-चिन्तनका यह बहुमुखी प्रसार नवलेखनकी चतुर्मुख जागरूकताका सूचक है।

हिन्दी साहित्य-चिन्तनका आधुनिक रूप वहाँसे प्रारम्भ होता है जहाँ मार्क्सीय और फ्रॉयडकी मनोविश्लेषणशास्त्रीय समीक्षासे असन्तुष्ट होकर हिन्दीके समीक्षकने एक व्यापक भाव-भूमिकी खोज प्रारम्भ की थी। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकारका साहित्य-चिन्तन मार्क्स और फ्रॉयडकी दृष्टियोंका बहुत हद तक ऋणी है। अपने-आपमें अपूर्ण होते हुए भी इन दृष्टियोंने मानव व्यक्तित्वके कुछ नये तथा अछूते पक्ष हिन्दी समीक्षकके सम्मुख रक्खे। आजके साहित्य-चिन्तककी संघटित पद्धति और दृष्टिके सम्मुख ये समीक्षा-पद्धतियाँ भले ही जीर्ण तथा पुरानी लगें पर सूर-तुलसी तथा देव-विहारी विवादसे काफ़ी ऊँचे उठकर इन्होंने हिन्दीके समीक्षकको एक अधिक गहरी और तलवर्ती दृष्टि दी थी। पं० रामचन्द्र शुक्लके महत्त्वपूर्ण साहित्य-अनुभावनके आगेकी दिशाएँ इन्होंने खोलीं, यद्यपि शुक्लजी जैसी पैनी समीक्षक-दृष्टि किसी आगे आनेवाले साहित्य-चिन्तकको न मिल सकी। शुक्लजी तथा उनके बाद पं० हजारीप्रसाद द्विवेदीकी पद्धतिका कुछ अंश यदि आधुनिक साहित्य-चिन्तनमें आ सका होता, तो उसकी रचनात्मकता और भी अधिक बढ़ सकती। नयी समीक्षा-पद्धति अपने आपमें एक रचनात्मक प्रक्रिया है, अत: कृति-साहित्य और समीक्षा-साहित्यके बीचका अन्तर अब पहले जैसा नहीं रहा है। कलाकारकी रचनात्मक प्रक्रिया जैसी है, वैसी ही स्थिति समीक्षककी आस्वादात्मक प्रक्रिया की है।

कलाकारकी रचनात्मक प्रक्रियाका विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञानकी खोजोंके प्रकाशमें हो सका है। यह विश्लेषण स्वत: लेखक द्वारा अथवा

उसके किसी सहानुभूतिपूर्ण समीक्षक द्वारा हुआ है। पहली पद्धतिमें लेखक-के अधिक सजग हो जानेका खतरा बराबर रहता है। इसीलिए इस वर्गके विवेचन सदैव बहुत सन्तोषजनक नहीं रह सके हैं। अधिकांश व्याख्याएँ कविताको लेकर हुई हैं। नयी कविताके आधुनिक तत्त्वोंकी-मीमांसाने हिन्दी समीक्षाके कुछ नये आयाम विकसित किये हैं। आकाशवाणीके कार्यक्रमों तथा विभिन्न पत्र-पत्रिकाओंमें सव्याख्या काव्य-पाठ और प्रकाशनने कविताकी मौलिक प्रकृतिको स्पष्ट किया है। रचनात्मक प्रक्रियाके विश्लेषणसे कलाकारको पहलेकी अपेक्षा अधिक सहानुभूति प्राप्त हुई है। यही नहीं कलामें पाठक, श्रोता या दर्शकके बढ़ते हुए सहभोगके पीछे भी यह व्याख्यात्मक दृष्टि ही प्रधान रही है। साधारणीकरणके आगे सहभोगकी स्थिति कलाकारकी रचनात्मक प्रक्रियाके विश्लेषण द्वारा सम्भव हो सकी है। व्याख्याकी इस पद्धतिसे काव्यके सङ्गत परिप्रेक्ष्य उभरते हैं और कविके प्रेरणा-स्रोतोंपर प्रकाश पड़ता है। साहित्य-सृजनका 'रहस्य' अब बौद्धिक स्तरपर विश्लेषण-गम्य बन गया है। लक्ष्मीकान्त वर्माकी समीक्षा कृति 'नयी कविताके प्रतिमान' (१९५७ ई०) इस क्षेत्रका प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। नयी कविताकी व्यापक सृजन-प्रक्रिया इस पुस्तकके माध्यमसे सहज ही समझी जा सकती है। 'संकेत' (१९५६ ई०) का परिसंवाद 'प्रेरणाके स्रोत' भी इस दिशाका एक महत्त्वपूर्ण प्रयास कहा जा सकता है।

आधुनिक साहित्य-चिन्तनकी सबसे बड़ी विशेषता उसके अन्तर्गत व्यापक मूल्यों और प्रतिमानोंका विवेचन है। सैद्धान्तिक संघर्षके इस युगमें मानवीय आस्थाओं और विश्वासोंका प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। विरोधी जीवन-पद्धतियों और दर्शनोंके सन्दर्भमें साहित्यकारका स्वतः अपना मार्ग-निर्देशन आवश्यक था। समीक्षाके मानदण्ड इन मौलिक मान्यताओं-पर ही आधारित होते हैं। हिन्दीके नये साहित्य-चिन्तकोंने इस क्षेत्रमें काफ़ी सोचा-समझा है। व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य और सामाजिक दायित्व जैसे जटिल प्रश्नपर 'आलोचना' त्रैमासिकमें महत्त्वपूर्ण विचार-विनिमय

हुआ। पत्रिकाके एक सम्पादकीय ('स्वातन्त्र्य और दायित्व : अविच्छिन्न मूल्य' आलोचना १६–१७) ने इस समस्याका अत्यन्त स्पष्ट और सन्तुलित विवेचन प्रस्तुत किया। इससे भी अधिक विवादास्पद विषय 'राज्य और साहित्यकार' का सिद्ध हुआ। 'परिमल' द्वारा आयोजित एक विचार-गोष्ठीके सन्दर्भमें इस प्रश्नपर व्यापक रूपसे विचार-विनिमय हुआ है। हिन्दीकी प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओंने इस चिन्तनमें अपना सहयोग दिया। इन दोनों ही समस्याओंपर हिन्दीके बहुत-से जागरूक लेखकोंने मत व्यक्त किया, जिससे चिन्तनकी एक सुस्पष्ट दिशा विकसित हो सकी। अज्ञेय, अमृतलाल नागर, देवराज, धर्मवीर भारती, शिवदानसिंह चौहान, विजयदेवनारायण साही, रघुवंश, लक्ष्मीकान्त वर्मा, जगदीश गुप्त, बालकृष्णराव प्रभृतिने कई दृष्टियोंसे उलझी हुई इन समस्याओंपर प्रकाश डाला। राज्य और लेखकसे सम्बन्धित विचार-गोष्ठीपर 'परिमल' की रिपोर्ट इस क्षेत्रका एक महत्त्वपूर्ण डौकूमेण्ट है। इन दोनों विचार-विनिमयोंमें साहित्यकारके व्यक्तित्वकी सुरक्षाको लेकर गम्भीर चिन्ता व्यक्त की गई।

इन व्यापक प्रश्नोंके अतिरिक्त कुछ ऐसी समस्याएँ भी उठाई गईं जिनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध साहित्यसे है। नायकका विघटन और लघु-मानवके उत्थानके सम्बन्धमें विजयदेवनारायण साही तथा लक्ष्मीकान्त वर्माने विस्तारसे विवेचन किया। लक्ष्मीकान्तकी 'नयी कविताके प्रतिमान' में इन सम्बद्ध समस्याओंकी गम्भीर मीमांसा हुई है। नामवरसिंह आदि कुछ प्रगतिवादी समीक्षक इसे योरपका अनुकरण कहना चाहते हैं, पर हिन्दीमें हर महत्त्वपूर्ण चीजको विदेशी उधार कहनेवाले समीक्षकोंकी कमी नहीं है। इस सूचीको नामवरसिंह जैसी समझ-बूझके नये लेखकने बढ़ाया है, यह किञ्चित् खेदका विषय है। साहित्यमें अश्लीलता जैसे पुराने पर चिर-नवीन प्रश्नके कुछ पहलुओंपर भी विचार हुआ है। शिवदानसिंह चौहान, अज्ञेय, शम्भूनाथसिंह तथा विजयदेवनारायण साहीने 'आलोचना' के कुछ अङ्कोंमें इस प्रसंगकी नई दिशाएँ खोली हैं। 'ज्ञानोदय' के अक्टूबर '५८

के अङ्कमें प्रकाशित अज्ञय द्वारा कुछ प्रश्नोंके दिये गये उत्तर विशेष महत्त्वके हैं। उन्होंने कलाकार तथा सामाजिक दोनोंकी समग्र दृष्टिको वास्तविक रसास्वादनके लिए आवश्यक बताया है। कलाके क्षेत्रमें अधूरी दृष्टि ही उनके अनुसार अश्लीलताको जन्म देती है। स्थायी साहित्यके मानदण्डों तथा साहित्यमें गतिरोधकी समस्यापर भी कुछ नये समीक्षकोंने विचार किया है। इन्हीं स्थितियोंको ध्यानमें रखकर साहित्यके नवीन दायित्व और मर्यादाके सम्बन्धमें भी चिन्तन हुआ।

पिछले कुछ वर्षोंमें साहित्यकारकी आस्थाके विषयमें कुछ विचार हुआ है। 'आलोचना'–११ में प्रकाशित 'साहित्यकी नयी मर्यादा' शीर्षक एक लम्बे निबन्धमें धर्मवीर भारतीने इस प्रश्नको व्यापक परिवेशमें उठाया था। राजनैतिक और आर्थिक सिद्धान्तोंके कुहरेमें साहित्यकारकी आस्थाके उलझे हुए भावको लेखकने इस निबन्धमें गम्भीर अध्ययन तथा मननके आधारपर स्पष्ट किया है। इस प्रसङ्गमें यह प्रथम महत्त्वपूर्ण और काफ़ी हदतक सफल प्रयत्न है। व्यापक मानववादी दृष्टिसे साहित्यकारके व्यक्तित्व-को संघटित बनाये रखना ही भारतीकी दृष्टिमें आस्थाकी सुरक्षाके लिए पहली शर्त है। जब व्यक्तित्व नहीं रहेगा तो आस्थाका प्रश्न नहीं उठता। इस प्रश्नपर कुछ अन्य लेखकोंने भी अपना मत दिया है। 'हंस' अर्द्धवार्षिकके प्रथम अङ्कमें तो एक पूरी लेखमाला इस विषयपर दी गई है, जिसे कुछ नये तथा पुराने लेखकोंने प्रस्तुत किया है। पर यह प्रयत्न कई दृष्टियोंसे असफल हुआ। एक तो इस परिसंवादमें लेखकोंका ठीक प्रतिनिधित्व नहीं है (यद्यपि अपने-आपमें यह बात बहुत आवश्यक नहीं है), और दूसरे इस समूचे चिन्तनकी दृष्टि रचनात्मक नहीं है। अधिकांश लेखक पक्षधरताके प्रवाहमें बह गये हैं। उन्होंने दूसरोंकी आस्थाको खोखला और मिथ्या बताया है, पर उनकी अपनी आस्था क्या है, इसे वे स्पष्ट नहीं कर सके हैं। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी समीक्षाका ही यह एक बड़ा दोष है, जो 'हंस'के इस परिसंवादमें प्रतिफलित हुआ है।

विशिष्ट मूल्यों और प्रतिमानोंकी विवेचनाके साथ नये साहित्य-चिन्तन-के अन्तर्गत विभिन्न साहित्यिक वादोंका परीक्षण भी हुआ है। हिन्दीमें प्रगतिवादको स्थापित करनेके लिए जितना आग्रह रहा है, उतना ही प्रबल उसका विरोध हुआ है। पर नये समीक्षकोंने हठवादितासे ऊपर उठकर भी प्रगतिवादका वैज्ञानिक विश्लेषण किया। धर्मवीर भारतीकी 'प्रगति-वाद : एक समीक्षा' एक विचारोत्तेजक कृति थी। हिन्दीके प्रगतिवादियोंकी सतही विचार-धाराका लेखकने इस कृतिमें तीखा विरोध किया है। प्रगतिवादके सम्बन्धमें दो बड़ी मौलिक कठिनाइयाँ थीं। एक तो यह कि क्या प्रगतिका भी कोई वाद माना जा सकता है, और दूसरे यह कि प्रगतिवादका मूल प्रेरणा-स्रोत भारतवर्ष न होकर कम्यूनिज़्मका वर्त्तमान केन्द्र सोवियट रूस है। पहली स्थितिकी अत्यन्त तार्किक विवेचना शिवदानसिंह चौहानने 'आलोचना'—४ के सम्पादकीयमें की है। वहीं उन्होंने प्रगति-शील और प्रगतिवादी साहित्यके बीचकी सीमा भी स्पष्ट की हैं। पर इसके बावजूद दूसरी आपत्ति ज्योंकी-त्यों बनी रहती हैं। विजयदेवनारायण साहीने 'आलोचना'—९ में इस प्रश्नको एक संपृक्त रूपमें प्रस्तुत किया। उनका निबन्ध 'मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्यूनिस्ट परिणति' मार्क्सवाद और भारतीय प्रगतिवादके बीचके अन्तरको उसके वास्तविक सन्दर्भमें उपस्थित करता है। इस गहरी खाईको जल्दबाज़ीमें पाटनेवाली प्रगतिवादी पद्धतिके खतरोंकी ओर उन्होंने संकेत किया है। इन विवेचनोंके प्रसंगमें रघुवंशकी सन्तुलित दृष्टिका उल्लेख होना आवश्यक है। प्रगति-वादी स्थितिका एक 'ऑब्जेक्टिव' मूल्यांकन उनकी समीक्षामें विशेष रूपसे मिलता है।

प्रगतिवादके अतिरिक्त छायावाद और प्रयोगवादका भी विवेचन हुआ है, पर अपेक्षाकृत कम। देवराज, शिवदानसिंह चौहान, रघुवंश, नामवरसिंह, लक्ष्मीकान्त वर्मा आदिने इन विषयोंपर अपने-अपने ढंगसे प्रकाश डाला है। पर यह विचार-विनिमय बहुत गहरे नहीं उतर सका। यहाँ तक कि

शिवदानसिंह चौहान तथा नामवरसिंह और विशेष रूपसे नामवरसिंह तो प्रयोगवादको गाली तक देनेपर उतर आये (यह स्मरणीय है कि प्रयोग-वादका 'डिफ़ेंस' लगभग नहींके बराबर हुआ है)। 'प्रयोगवाद' शीर्षक निबन्धका अन्त करते हुए नामवरसिंह लिखते हैं—'प्रयोगवाद त्रिशंकु ! प्रयोगवाद नदीका द्वीप ! प्रयोगवाद साँप ! महत्त्वाकांक्षी ! अस्तित्ववादी ! मोहक ! दयनीय ! निरीह ! वेव्य !' ('हिन्दी काव्यकी प्रवृत्तियाँ') इस स्तरका असन्तुलन हिन्दी आलोचनाके किसी भी दौरमें मुश्किल से मिलेगा। पर प्रयोगवादका विकास जिस ढंगसे हो रहा था उसमें किसीने इन गालियोंकी परवाह नहीं की। कारवाँ आगे बढ़ता गया।

वाद-विवेचनका समग्रतर रूप साहित्यके इतिहास-दर्शनके रूपमें विक-सित हुआ। यह सोचा गया कि जिस प्रकारसे इतिहासके विकासके कुछ अपने नियम होते हैं, उसी प्रकारसे साहित्यके विकासके पीछे भी कुछ नियम कार्य करते होंगे। इस दिशामें प्रथम महत्त्वपूर्ण संकेत नामवरसिंहके 'आलोचना'के इतिहास-अंकमें प्रकाशित निबन्धमें मिलता है। पर इस क्षेत्रमें उन्होंने आगे कोई विशेष कार्य नहीं किया। हर्षनारायणने इतिहास-दर्शन तथा संस्कृतियोंके व्यापक अध्ययनको और अधिक गहराई तथा पूर्णता दी। 'प्रतीक' तथा 'आलोचना'में इन विषयोंसे सम्बद्ध उनके कई निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। संस्कृति और इतिहासके साथ साहित्यकी किस स्तरपर संगति होती है, इसका गम्भीर और रोचक अध्ययन हर्षनारायण प्रस्तुत कर सके हैं। देवराज तथा 'मुद्राराक्षस'ने भी इस दिशामें कार्य किया है।

नये साहित्य-चिन्तनके अन्तर्गत शिल्प-सम्बन्धी अध्ययन पहलेकी अपेक्षा अधिक पूर्ण सन्दर्भोंमें हुआ है। इस दृष्टिमें शिल्प कोई ऊपरसे आरोपित चीज़ न होकर, कलाकारके संवेदनोंका अनिवार्य बाह्य प्रतिरूप है। पर इसके बावजूद उसकी चिन्ता तथा आयोजना कलाकारके लिए स्वाभाविक है। इसीलिए नये समीक्षकने शिल्पका महत्त्व गौण नहीं माना। नव-लेखनमें यह शिल्पगत विवेचन मुख्यतः नयी कविताको लेकर हुआ है।

जगदीश गुप्त, लक्ष्मीकान्त वर्मा, कृष्णनारायण कक्कड़ तथा[1] अन्योंने शिल्पको उसकी समग्रतामें देखना चाहा है। जगदीश गुप्तका अर्थकी लयके सम्बन्धमें विवेचन तथा कक्कड़का नयी कविताकी भाषाका विश्लेषण इस नयी समीक्षा-पद्धतिके परिचायक हैं। कविताके अत्यन्त सूक्ष्म तथा अमूर्त उपकरणोंको उन्होंने पकड़नेका प्रयास किया है। भाषा तथा लयके सर्वथा अछूते आयाम इन विवेचनोंके माध्यमसे प्रकाशमें आ सके हैं, जिनसे नयी कविताकी मौलिक प्रकृतिको समझनेमें काफ़ी सहायता मिलती है। शिल्प-सम्बन्धी यह अध्ययन अभी अन्य दिशाओंमें नहीं जा सका है, और न इस पद्धतिकी सभी सम्भावनाएँ खुली हैं। पर इस प्रारम्भने इस क्षेत्रकी कई नयी दिशाओंका उद्घाटन किया है। अज्ञेय सफल भाषाको अपने-आपमें एक उपलब्धि मानते हैं, पर विचारोंके अभावमें तो भाषाकी कल्पना नहीं हो सकती। उन्होंने स्थितिको एक दूसरे महत्त्वपूर्ण पहलूसे देखा है, जो अभी तक प्रायः तिरस्कृत ही रहा है।

मूल्यगत विवेचन तथा चिन्तनका ही एक और विकसित रूप विचारों-के साहित्य (Literature of ideas) में मिलता है, जिसका उदय प्रमुखतः नवलेखनके तत्त्वावधानमें हुआ। आधुनिक युगमें राजनीति साहित्य-के लिए अस्पृश्य नहीं रह गई है। साथ ही मनोविज्ञान, दर्शन, समाज-शास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानोंने भी साहित्यके विकासमें महत्त्वपूर्ण योग दिया है। साहित्यके तत्त्वावधानमें ज्ञानके इस समन्वित रूपको विचारोंका साहित्य कहा जाता है। सह-अस्तित्वके प्रश्नसे लेकर समसाम-यिकताके दायित्वकी समस्यातक इस नये साहित्य-रूपके अन्तर्गत आ जाती है। यहीं आजका नया साहित्यकार चिन्तकका पर्याय बन गया है। समी-क्षात्मक साहित्यके साथ-साथ कृति-साहित्यमें भी इस विचारोंके साहित्यका संघात देखा जा सकता है। नवलेखनकी मूल बौद्धिक मनोवृत्ति विचारोंके साहित्यमें बड़े सशक्त ढंगसे प्रतिफलित हुई है।

आधुनिक लेखककी चतुर्मुख जागरूकताने विचारोंके साहित्यका प्रण-

यन किया। हिन्दी समीक्षामें धर्मवीर भारती, रघुवंश, विजयदेवनारायण साही आदि नयी पीढ़ीकी विचार-धाराका प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रसंग-में पहला महत्त्वपूर्ण प्रश्न नयी पीढ़ी और पुरानी पीढ़ीके पारस्परिक सम्बन्धोंको लेकर ही उठा था। साहीने 'राष्ट्रवाणी' के 'जलते प्रश्न' के अन्तर्गत इस ऐतिहासिक समस्याका विश्लेषण किया। इसी स्थितिका एक दूसरा महत्त्वपूर्ण पक्ष भारतीने अपने सुप्रसिद्ध 'धुरीहीनता' शीर्षक निबन्ध-में उठाया। आधुनिक परिवेशमें पुराने लेखकोंके असंगत आचरण और निष्क्रिय तटस्थताके प्रति भारतीका आक्रोश ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इसी चिन्तनको आगे बढ़ाकर नये लेखकके दायित्व बोधको विकसित किया गया। 'जलते प्रश्न' लेखमालाके निबन्ध विचारोंके साहित्यके श्रेष्ठ नमूने हैं। साहीका 'नितान्त समसामयिकताका दायित्व' शीर्षक निबन्ध एक बड़ी महत्त्वपूर्ण समस्याका गम्भीर विश्लेषण है। इस क्षेत्रमें शिवदानसिंह चौहानके योगका उल्लेख भी आवश्यक है। कुल मिलाकर हिन्दीका यह नया विचारों-का साहित्य नवलेखनकी एक विशिष्ट उपलब्धि है, जिसने सह-चिन्तनकी पद्धतिको काफ़ी मज़बूत बनाया है। समूची विचार-परम्पराको विकसित करने तथा उसके नये आयामोंके आविष्करणमें यह साहित्य असाधारण महत्त्वका सिद्ध हो रहा है। हिन्दी साहित्य-चिन्तनकी मौलिक प्रकृति बहुत कुछ इसीके आधारपर निर्मित हुई है। चिन्तनकी इस पद्धतिको गोष्ठी-साहित्य तथा परिसंवादोंने विशेष रूपसे समृद्ध किया, जिसका उल्लेख एक स्वतन्त्र अध्याय ('नवलेखनका वातावरण') में किया गया है।

जैसा पहले कहा जा चुका है, हिन्दी नवलेखनका साहित्य-चिन्तन किसी एक विशिष्ट लेखककी उपलब्धि नहीं है। अन्य साहित्य-रूपोंके समान नवलेखनका यह पक्ष भी सामूहिक प्रयाससे पुष्ट हुआ है। इस नये समीक्षक-वर्गकी एक दूसरी विशेषता यह है कि इसमेंसे अधिकांश प्रमुखतः कृति साहित्यकार हैं या कृति-साहित्यकार भी हैं। इस स्थितिसे सामान्यतः दृष्टिबोधमें समग्रता ही आई है। इसके अतिरिक्त उनका चिन्तन मूलतः

'कंसंट्रेटेड' है, बहुत-सी समस्याओंको एक साथ उठाता है। 'इसीलिए 'डिटेल' की ओर ध्यान न देकर संप्रति नया समीक्षक साहित्यके समूचे भावबोधको अपनी दृष्टिमें लाना चाहता है। उसकी संतुलित और पूर्णतर दृष्टिका यह दूसरा कारण है। और इस तरह साहित्यके विभिन्न पक्षोंकी मीमांसा हो जानेपर भी व्यक्तिगत समीक्षकोंका कार्य परिमाणकी दृष्टिसे बहुत कम है। अधिकांशने केवल आधे दर्जनके लगभग निबन्ध प्रकाशित किये हैं। पुस्तक रूपमें यह चिन्तन तो और भी विरल है।

नयी समीक्षा और नये भाव-बोधकी ओर संकेत करनेवाले समीक्षकोंमे देवराजका नाम अग्रणी है। व्यवस्थित रूपसे तो उन्होंने छायावादका अध्ययन ('छायावादका पतन'–१९४८ ई०) प्रस्तुत किया है, जो अपनी प्रकृतिमें कई दृष्टियोंसे नया है, पर साहित्यकी नवीनतम प्रवृत्तियोंकी उन्होंने स्फुट ढंगसे ही विवेचना की है। देवराज मूलतः साहित्यके क्लैसिक रूपको मान्यता देकर चलते हैं, पर इसके बावजूद प्रयोगवाद तथा नयी कविता जैसे नवोन्मेषोंको उन्होंने जिस सहानुभूतिके साथ समझा है, वह सचमुच श्लाघ्य है। दर्शन-मनोविज्ञान तथा संस्कृतिके गम्भीर अध्येता होनेके कारण कलाके मर्म और स्रोतोंको वे आसानीसे पकड़ सके हैं। उनका शोध-प्रबन्ध 'संस्कृतिका दार्शनिक विवेचन' (१९५७ ई०) विचारोंके साहित्यके अन्तर्गत आता है। वर्तमान संकटके युगमें संस्कृतिके दायित्वको उन्होंने सावधानीके साथ स्पष्ट किया है। संस्कृतिके सूक्ष्म तत्त्वोंका विश्लेषण तो वे अनायास ही कर सके हैं।

देवराज कृति साहित्यकारके रूपमें प्रयोगवादके एक विशिष्ट सहयोगी रहे हैं। पर नयी कविता तक आते-आते उनकी समीक्षा-पद्धति कुछ अधूरी-सी लगने लगती है। आवश्यक सहानुभूति तथा सूक्ष्म पकड़का उनमें अभाव नहीं है, पर नयी संवेदनोंके साथ उनका ठीक-ठीक तादात्म्य नहीं हो पाता। साथ ही दार्शनिक होनेके कारण वे कुछ शंकालु भी रहते हैं। सामान्य नये लेखककी दृढ़ आस्था तथा विश्वाससे उनकी स्थिति कुछ भिन्न है। प्रयोगवाद-

के प्रति भी उनकी शंकाएँ बराबर बनी रहीं। उनकी चिन्तन-शैलीकी एक और कमी यह है कि स्थान-स्थानपर उनके विचारक-रूपमें उद्‌वोधन-वृत्तिका प्रवेश हो जाता है। 'प्रयोगवादी कवि : एक चेतावनी' ('नयी कविता'—२) शीर्षक निवन्ध इस प्रवृत्तिका अच्छा उदाहरण है। यह सही है कि उनकी उद्‌वोधन-वृत्तिके लिए हिन्दी-साहित्यमें आलम्वनोंकी कमी नहीं है। पर इस कार्यको करनेवाले लोग भी वहुतसे हैं, जिनका अध्ययन-मननसे कोई वास्तविक सम्वन्ध नहीं है। देवराज मूलतः चिन्तक हैं, और इस दृष्टिसे उनका दायित्व भिन्न है।

अपनी समीक्षा-शैलीमें ज्ञात अथवा अज्ञात रूपसे देवराजने इतिहास-दर्शनकी पृष्ठभूमिको स्वीकार किया है। इस दिशाके श्रेष्ठतम साधन उन्हें उपलब्ध हैं। 'संस्कृतिका दार्शनिक विवेचन' अधिक एकेडेमिक कार्य है, पर उनकी स्फुट समीक्षा-कृतियों ('साहित्य चिन्ता'—१९५० ई०, 'संस्कृति और साहित्य'—१९५८ ई०) में भी यह दृष्टि किसी-न-किसी रूपमें देखी जा सकती है, जिसका एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ है कि उनकी चिन्तन-पद्धतिमें किसी प्रकारकी पक्षधरता नहीं देखी जा सकती। छाया-वादसे लेकर नयी कविता तकका विश्लेषण वे निरुज दृष्टिसे कर सके हैं। विना एकेडेमिक स्तरको स्वीकार किये हुए उनका यह यत्न सचमुच स्पृहणीय है।

प्रमुखतः कृति साहित्यकार अज्ञेयकी समीक्षा-पद्धतिमें भी यह दृष्टिकी निरुजता मिलती है। पर इसके साथ-साथ उनकी रस-ग्राहिणी वृत्ति भी अप्रतिम है। साहित्यके संघटित भाव-बोधका वे वैसा ही संपृक्त विश्लेपण कर पाते हैं। नये साहित्यके विषयमें उन्होंने जो भी थोड़ा-वहुत लिखा है वह उनकी इस सन्तुलित और समग्र दृष्टिके कारण काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। 'आधुनिक भारतीय भाषाओंके साहित्य' शीर्षक परिसंवादमें संकलित उनके हिन्दीसे सम्वद्ध निवन्धकी तीखी और कहीं-कहीं अभद्र आलोचना तो हुई है, पर उस निबन्धमें प्रस्तुत आधुनिक साहित्यके विश्लेषणका मूल्यांकन

प्रायः किसीने नहीं किया है। नाम-परिगणनके सम्बन्धमें उनसे मत-भेद समझा जा सकता है, पर आलोचनाओंके इस घटाटोपमें लेखककी मूल दृष्टिको ही खो दिया जाय, यह सचमुच खेदका विषय है।

अज्ञेयके समीक्षात्मक निबन्धोंका संकलन ('त्रिशंकु'–१९४५ ई०) काफ़ी पहले प्रकाशित हुआ था। इसके उपरान्त विशेष रूपसे आधुनिक साहित्यके सन्दर्भमें कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंपर वे स्फुट ढंगसे विचार करते रहे हैं। 'आलोचना'के आलोचना-अंकमें समीक्षाके नैतिक मानोंसे सम्बद्ध उनका निबन्ध विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। इसी प्रकारसे 'नयी कविता'–२ में सर्वेश्वरदयाल सक्सेनाका जो परिचय उन्होंने प्रस्तुत किया है, उससे नयी कविताकी कई समस्याओंपर प्रकाश पड़ता है। 'तार-सप्तक' तथा 'दूसरा सप्तक'में उनकी भूमिकाएँ तो अब ऐतिहासिक महत्त्व-की हैं। 'प्रतीक'में भी आधुनिक भारतीय तथा योरोपीय साहित्यके कुछ प्रसंगोंपर उनके महत्त्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित हुए थे। साहित्य, कला तथा विचारपर उनकी समन्वित दृष्टि नये साहित्य-चिन्तनके विकासमें बहुत सहायक रही है। इस दिशामें यदि वे कुछ और अधिक कार्य कर सकते तो बहुत-सी उलझी हुई समस्याओंको लेकर कुछ सही परिप्रेक्ष्य नव-लेखनके पाठक और समीक्षकके सम्मुख उभरते।

नयी पीढ़ीके उन समीक्षकोंमें जिन्होंने एक सम्पृक्त दृष्टिसे साहित्य-चिन्तन प्रस्तुत किया, अधिकांश ऐसे हैं जो विश्वविद्यालयोंमें प्राध्यापक हैं, तथा जिन्होंने शोध-कार्य भी किया है। एकेडेमिक तथा साहित्य-संवेद-नात्मक तत्त्व उनके व्यक्तित्वमें घुल-मिल गये हैं। साहित्य-चिन्तनकी वास्तविक दिशा वस्तुतः इन समीक्षकोंसे ही प्रारम्भ होती है। रघुवंश, धर्मवीर भारती, नामवरसिंह तथा विजयदेवनारायण साहीने अलग-अलग तथा 'आलोचना' त्रैमासिकके सम्पादन द्वारा नयी हिन्दी समीक्षाको उसका आधुनिक रूप दिया है। संवेदनाओंके समग्र परीक्षण, नये सन्दर्भोंको व्यक्त करनेवाली भाषा तथा शैली और साहित्यकी केन्द्रीय समस्याओंसे लेकर

उसके सीमान्तों तककी छान-बीनने इन नये समीक्षकोंको चिन्तनका एक व्यापक और पूर्णतर परिवेश प्रदान किया।

रघुवंशकी विशेष ख्याति उनकी सन्तुलित तथा ऑब्जैक्टिव समीक्षा-शैलीको लेकर मुख्यतः है। आधुनिक युगमें तर्क-पद्धतिपर उनका अटूट विश्वास है; उत्तेजनाके माध्यमसे वे किसी सत्यको सिद्ध नहीं करना चाहते। साहित्यके स्थायी मानदण्डोंके सम्बन्धमें उनकी चिन्ता विशेष है। क्लैसिक्सके विस्तृत अध्ययनके कारण उनकी समीक्षा-पद्धतिको सुदृढ़ आधार-भूमि मिल सकी है। उनमें निष्कर्षका उतना आग्रह नहीं जितना विश्लेषण-का है। इस दृष्टिसे उनकी समीक्षा-शैली व्यंजनात्मक ही अधिक मानी जायगी, जिसमें उनके पाठकको निष्कर्ष तक पहुँचनेकी अपेक्षाकृत अधिक छूट रहती है। प्रयोगवादके वे प्रारम्भिक समीक्षकोंमें रहे हैं, छायावादका भी उन्होंने विश्लेषण किया है, और इधर नयी कविताके बारेमें विचार करते रहे हैं। पर वे विचारोंको रोक कर उन्हें निश्चित मतके रूपमें व्यक्त करना उतना वांछनीय नहीं समझते, जितना चिन्तनकी गतिशीलताको उसके समस्त आयामोंमें प्रस्तुत कर देना उचित समझते हैं। प्रयोगवाद तथा नयी कविताके विवेचनमें ('नयी कविता'—२) अथवा 'हिन्दी काव्यकी प्रवृत्तियाँ'की भूमिकामें लेखककी यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

दूसरे शब्दोंमें रघुवंशकी समीक्षा-पद्धति प्रमुखतः गत्यात्मक है। लेखक-की क्लैसिक्समें आस्थाके साथ यह गत्यात्मक प्रवृत्ति एक विचित्र संयोग मानी जायगी। पर नवलेखनकी मौलिक संपृक्त प्रकृतिका ही यह एक प्रतिफलन है। यह स्थिति सह-अस्तित्वकी नहीं वरन् समग्रताकी द्योतक है। और रघुवंशमें साहित्य-चिन्तनकी यह समग्र दृष्टि एकेडेमिक स्पर्श भी पा सकी है। लेखकका नयी कवितापर प्रस्तुत लम्बा निबन्ध ('कल्पना' अक्टूबर-नवम्बर ५८) इसका अच्छा प्रमाण है। नयी कविताके सम्बन्ध-में सभी प्रकारके पूर्वाग्रहोंसे ऊपर उठकर समीक्षकने एक स्वस्थ और संतुलित विवेचन उपस्थित किया है। यही विशेषता उसके जनवादी

साहित्यके मूल्यांकनमें भी देखी जा सकती है। काफ़ी विवादास्पद विषयोंमें पड़कर भी लेखक अपने व्यक्तित्वकी मर्यादाको स्थापित कर सका है। साहित्यिक समस्याओंके अतिरिक्त लेखकने भाषा सम्बन्धी प्रश्नोंको भी एक नये और रचनात्मक ढंगसे देखा है। अंग्रेज़ी तथा आधुनिक भारतीय भाषाओंकी पारस्परिक स्थितिको लेकर रघुवंशके विचार इस अत्यन्त जटिल प्रसंगमें बड़ी सावधानीसे व्यक्त किये गये हैं।

हिन्दीके नये साहित्य-चिन्तनमें धर्मवीर भारतीका योग कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। उनका आधुनिक पाश्चात्य साहित्य तथा चिंतन प्रणालियों-का गम्भीर अध्ययन उनकी समीक्षा-पद्धतिको एक व्यापक स्तरपर प्रतिष्ठित करता है। इसके अतिरिक्त उनके विचारोंकी स्पष्टता और तेज़ी भी असाधारण हैं। ये सभी प्रवृत्तियाँ उनकी प्रथम समीक्षा-कृति 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' (१९४९ ई०) में प्रतिफलित हुई हैं। पर उसके विचारोंमें वह मँजाव नहीं है, जिससे किसी विशिष्ट कृतिको एक मर्यादित रूप मिलता है। इसका एक प्रमुख कारण यह हो सकता है कि यह एक प्रतिक्रियामें लिखी गई रचना है। मार्क्सवादके अध्ययनसे लेखकको जितना संतोष तथा शान्ति मिली है हिन्दीकी प्रगतिवादी समीक्षासे उसे उतना ही असंतोष मिला है (द्रष्टव्य लेखकके उपन्यास 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' का वक्तव्य) इस असन्तोष तथा खीजकी अभिव्यक्ति निश्चय ही उतने संतुलित रूपमें नहीं हो सकती जितने संतुलित ढंगसे लेखकके अपने निजी विचार प्रस्तुत किये गये हैं। 'प्रगतिवाद : एक समीक्षा' तथा 'साहित्यकी नयी मर्यादा'में काल-क्रमके अन्तरके साथ इस रचना-दृष्टिका भी अन्तर है।

'साहित्यकी नयी मर्यादा' ('आलोचना'–११) नये साहित्य-चिन्तनको स्थापित करने और उसके आन्तरिक मूल्योंको प्रस्फुटित करनेवाली कृति है। नवलेखनके क्षेत्रमें विचारोंके अभियानका वह पहला महत्त्वपूर्ण पथ-चिह्न है। चिन्तन-प्रणाली और भाषा-प्रयोगोंकी नयी दिशाओंका उद्घाटन करनेके साथ इस प्रबन्धने साहित्यकी नयी मर्यादा और दायित्वोंका जो बोध

कराया है हिन्दी-समीक्षामें उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। भारतीकी समीक्षा-पद्धति वैसे भी सैद्धान्तिक पक्षकी ओर अधिक प्रवृत्त रही है। 'प्रतीक' में प्रकाशित निबन्ध अथवा 'राष्ट्रवाणी' के 'जलते प्रश्न' के अन्तर्गत प्रस्तुत चिन्तन-प्रसंग आधुनिक विचारोंके साहित्यको समृद्ध बनाते हैं। लेखककी दृष्टिमें व्यापक मानववादी दृष्टि तथा उसके साथ मानवीय व्यक्तित्वकी अनिवार्य सुरक्षा और स्वतन्त्रता नये समाजके विकासकी आवश्यक भाव-भूमियाँ हैं। उसके अनुसार इन प्रवृत्तियोंसे संपृक्त साहित्य ही इस संकट-कालको दूर करके नव-निर्माणमें सहयोग दे सकता है।

विजयदेवनारायण साहीकी समीक्षा-पद्धति कुछ विशेष क्षेत्रोंमें सीमित रही है। मार्क्सवादके प्रसंगमें सैद्धान्तिक दृष्टिसे साहित्य-चिन्तन उनकी अपनी विशेषता है। इस क्षेत्रमें उनकी व्याख्याएँ और निष्कर्ष दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। 'आलोचना'–९ में प्रकाशित 'मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्यूनिस्ट परिणति' शीर्षक निबन्ध, उनके इस विषयसे संबद्ध विचारोंको बड़े सुगठित रूपमें प्रस्तुत करता है। साहित्यिक रस-बोधका विवेचन भी उन्होंने किया है, पर यह उनकी मुख्य रुचि नहीं मानी जा सकती। 'नयी कविता'–१ में लक्ष्मीकांत वर्माका कवि-परिचय उन्होंने अन्तर्दृष्टि और सहानुभूतिके साथ दिया है। उनकी कुछ पुस्तक-समीक्षाओंकी भी विशेष चर्चा रही है। पर उन्हें सबसे अधिक ख्याति मिली 'राष्ट्रवाणी' के 'जलते प्रश्न' लेखमालाके अन्तर्गत कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्याओंके विवेचनसे।

'राष्ट्रवाणी' में प्रकाशित निबन्धोंमें साहीने नयी पीढ़ी–पुरानी पीढ़ी, नायकत्वका विघटन, समसामयिक दायित्वका बोध जैसे बौद्धिक प्रसंगोंकी मीमांसा की है। समस्याओंके विश्लेषणमें उनकी तर्क-पद्धति काफ़ी व्यवस्थित रहती है। इसीलिए इन चिन्तन-प्रसंगोंकी ओर काफ़ी लोग आकृष्ट हुए। पर शैली-गत अस्पष्टता और कभी-कभी अनावश्यक विस्तारके कारण लेखककी मान्यताएँ स्पष्ट रूपसे उभर नहीं पातीं। व्यवस्थित तर्क-

पद्धतिके साथ यदि सुस्पष्ट शैलीका भी संयोग हो सकता तो साहीके विचारोंकी प्रभविष्णुता और बढ़ सकती थी।

साहीकी 'एण्टीथीसिस' के रूपमें नामवरसिंहका अध्ययन किया जा सकता है। मार्क्सवादसे प्रभावित प्रगतिवादी दृष्टि-विन्दु उनकी समीक्षाकी केन्द्रीय स्थिति है। पक्षधरताको स्वीकार करके चलनेके कारण लेखकके निष्कर्ष तो ग़लत हो ही जाते हैं, व्याख्या पद्धति भी दूषित हो जाती है। प्रयोगवाद तथा नयी कविताके प्रसंगमें उनके पूर्वाग्रह कदाचित् सबसे प्रवल हैं। प्रतिक्रिया-स्वरूप लिखे जानेके कारण इन विषयोंसे सम्बद्ध उनके विवेचन समीक्षकके आवश्यक सन्तुलनसे रहित हैं। इसके विपरीत जहाँ उन्होंने अपने ढंगसे किसी प्रसंगकी मीमांसा की है वहाँ उनकी समीक्षा-शैली अत्यन्त स्थिर और प्रभावोत्पादक वन गई है। 'संकेत'में प्रकाशित 'व्यापकता और गहराई' शीर्षक निवन्ध (अथवा 'हंस'में प्रकाशित साहित्यकारकी आस्थासे सम्बन्धित वक्तव्य) तथा 'आलोचना'के इतिहास-अंकमें साहित्यकी ऐतिहासिक व्याख्यासे सम्बद्ध निबन्ध लेखककी इन दोनों शैलियोंके अच्छे उदाहरण हैं। शिवदानसिंह चौहानके साथ उन्होंने नवलेखनके क्षेत्रमें 'प्रगतिवादी' या 'प्रगतिशील' दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

विशेष रूपसे नयी कविताके शिल्पका अध्ययन जगदीश गुप्तने किया है। कविताकी लय तथा उसके आन्तरिक विन्यासका विश्लेषण उनकी समीक्षाका प्रधान क्षेत्र है। इस दृष्टिसे 'नयी कविता' में प्रकाशित उनके निवन्धोंका अपना महत्त्व है। शिल्पके समग्र रूपके सम्बन्धमें उनके विचार उलझी हुई परिस्थतियोंको काफ़ी स्पष्ट करते हैं क्योंकि लेखकका यह अध्ययन वहुत व्यापक धरातलपर हुआ है। कविताके साथ-साथ नवीन कला-आन्दोलनोंका सूक्ष्म विवेचन उनकी दृष्टिको और भी पूर्ण बनाता है।

नये साहित्य-चिन्तनको विकसित करनेवाले लेखकोंमें लक्ष्मीकांत वर्माका नाम प्रमुख है। 'नयी कविताके प्रतिमान' (१९५७ ई०) के

लेखकके रूपमें उनके विचार काफ़ी व्यवस्थित रूपसे सबके सम्मुख आ चुके हैं। इसके अतिरिक्त नयी समीक्षाकी विशिष्ट शब्दावलीको विकसित करनेमें उनका योग अन्यतम है। नये भावोंको व्यक्त करनेके लिए परम्परागत शब्द-प्रयोगोंसे पूरा पड़ते न देखकर उन्होंने कई प्रकारके शब्द गढ़े हैं, जिनमेंसे कुछ अब धीरे-धीरे गृहीत भी हो चले हैं। इस नयी शब्दावलीको देखकर कुछ लोग प्रायः चौंक उठते हैं और लक्ष्मीकान्त-की शैलीपर दुरूहताका आरोप लगाते हैं। पर निश्चय ही यह स्थिति वास्तविक नहीं मानी जा सकती।

लक्ष्मीकान्तकी शैली दुरूह नहीं है। पर उनके विचार बहुत कुछ अनुभूतिके स्तरपर रह जाते हैं, इसीलिए वे सर्वत्र बोधगम्य नहीं हो पाते। उनकी चिन्तन-पद्धति धीरे-धीरे भौतिकसे सूक्ष्मकी ओर जाने लगती है। इस दृष्टिसे उच्चतर गणित, भौतिकशास्त्र और उसके साथ ही साहित्य-शास्त्रकी भी परिणति अपनी-अपनी दृष्टिसे दर्शनमें होती है। लक्ष्मीकांतका साहित्य-चिन्तन कहीं-कहीं इस तथ्यकी सशक्त व्यंजना करता है। किन्तु यह भी सही है कि यह स्थिति उनकी समीक्षा-पद्धतिकी यथार्थ दिशा नहीं कही जा सकती।

अपनी समीक्षाकी मौलिक प्रकृतिके अनुरूप लक्ष्मीकान्तकी शैली काव्यकी सृजन-प्रक्रियाको समझानेके लिए अत्यन्त उपयुक्त है। 'नयी कविताके प्रतिमान' समूची नयी कविताकी सृजन-प्रक्रियाका विवेचन है। सामाजिक परिवेशकी अपेक्षा व्यक्तित्वकी गहराइयोंके सन्दर्भमें उन्होंने साहित्यको अधिक अच्छे ढंगसे परखा है। शायद यही कारण है कि सैद्धान्तिक समीक्षासे ऊपर उठकर विचारोंके साहित्यके क्षेत्रमें उन्होंने अब तक कोई विशेष कार्य नहीं किया है। इस दिशामें उनका कृति-साहित्य अधिक सशक्त माना जा सकता है।

'नयी कविताके प्रतिमान'का महत्त्व एकसे अधिक कारणोंसे है। नयी समीक्षाका प्रथम ग्रन्थ होनेके कारण नये भाषा-प्रयोगोंको गढ़नेका दायित्व

भी उसीके ऊपर आ पड़ा। इसके अतिरिक्त रचनात्मक प्रक्रियाका मौलिक विवेचन होनेसे वह नयी कविताका पक्षधरतासे हीन पर सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन है। इस प्रसंगमें कवि-विवेचकके दायित्वका जिस ढंगसे निर्वाह लक्ष्मीकान्तने किया है वह सराहनीय है। फिर, शैलीकी दृष्टिसे 'नयी कविताके प्रतिमान'में एकेडेमिक और अनौपचारिक पद्धतियोंका बड़ा सुखद सम्मिश्रण हुआ है। एक ओर लेखककी तथ्य-परिगणन तथा सूत्र-शैली है तो दूसरी ओर मनोवैज्ञानिक अन्तःप्रक्रियाओंका उन्मुक्त विवेचन है। और इन सबसे ऊपर लेखकका एक नयी दिशा खोलनेका प्रयास है। इस रूपमें एक ओर जहाँ यह कृति इतनी विवादास्पद सिद्ध हुई है, वहीं दूसरी ओर इसने अन्य बहुतसे प्रतिभाशाली नये कवियोंको लिखनेकी प्रेरणा दी है। नये साहित्य-चिन्तनका एक प्रमुख भाग नयी कवितापर आधारित है, और इस पृष्ठभूमिमें इस ग्रन्थका अपना विशिष्ट योग है। इस कृतिसे हिन्दीके अपने समीक्षा-शास्त्रकी सम्भावनाओंके सम्बन्धमें भी महत्त्वपूर्ण संकेत मिलता है।

नये समीक्षकों तथा उनके कृतित्वके सर्वेक्षणसे स्पष्ट हो जाता है कि नवीन साहित्य-चिन्तनका परिमाण यद्यपि कम है, पर उसकी तेजस्विता अपेक्षाकृत कहीं अधिक है। सह-चिन्तनमें व्यक्तित्वकी असाधारणताके विकसित होनेका अवसर कम रहता है। हिन्दीकी नयी समीक्षामें इसीलिए किसी एक व्यक्तिगत समीक्षककी अपेक्षा कदाचित् त्रैमासिक 'आलोचना' (१९५१-५९) का योग अधिक महत्त्वपूर्ण जान पड़ता है। पहले शिवदानसिंह चौहान तथा उनके बाद धर्मवीर भारती, रघुवंश, ब्रजेश्वर वर्मा और विजयदेवनारायण साहीके संयुक्त सम्पादनमें इस पत्रिकाने हिन्दी समीक्षाको काफ़ी ऊँचे धरातलपर प्रतिष्ठित किया। अधिकांश नया साहित्य-चिंतन 'आलोचना' के माध्यमसे सामने आया है। कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंपर स्वतंत्र निबंध तथा परिसंवाद प्रकाशित करके इस पत्रिकाके संपादकोंने हिन्दी समीक्षामें एक संतुलन और विचारोत्तेजन उत्पन्न किया।

वैसे तो नयी समीक्षाके कई क्षेत्रोंमें अभी कार्य होना है, पर पुस्तक-समीक्षाका अंग अपेक्षाकृत बहुत कमज़ोर है। सच तो यह है कि पुस्तक-समीक्षाकी न तो अभी तक कोई पद्धति ही विकसित हो सकी है, और न उसे अभी पर्याप्त रूपसे आदृत तथा सम्मानित माना जाता है। व्यवहारिक समीक्षाके अविकसित रहनेसे भी पुस्तक-समीक्षाकी कला उन्नत नहीं हो सकी। हिन्दी समीक्षा अभी पक्षधरकी अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक है। इस क्षेत्रमें स्वस्थ और निरुज व्याख्यात्मक दृष्टिका अभाव है। इसीलिए संतुलित पुस्तक-समीक्षा एक विरल परिस्थिति बन गई है। व्यक्तिगत संबन्धोंसे ऊपर उठकर साहसपूर्ण, निर्भीक परन्तु मूलतः सहानुभूतिपूर्ण पुस्तक-समीक्षा हिन्दी-साहित्यके बहुतसे ग़लत चरणोंको रोक सकती है। परन्तु अभी तक तो पुस्तक-समीक्षाका वास्तविक महत्त्व और दायित्व ही नहीं समझा जा सका है।

पर नये साहित्य-चिंतनके एक मार्गके किंचित् अवरुद्ध होनेसे उसका समूचा विकास अवरुद्ध नहीं हो सका है। वरन् कुछ अन्य माध्यमोंसे इस पक्षको सहायता मिली है। गोष्ठी-संलापों तथा परिसंवादों, टिप्पणियों और ध्वनिवार्त्ताओं द्वारा भी यह साहित्य-रूप समृद्ध हुआ है। यही नहीं, विशुद्ध समीक्षकोंके अतिरिक्त बहुतसे कृति-साहित्यकारोंने भी इस दिशामें महत्त्व-पूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। विचार-राशिके विभिन्न तन्तुओंसे निर्मित होनेके कारण नवलेखनका साहित्य-चिंतन एक समग्र और संपूर्णतर दृष्टिकोणका परिचायक है, जो वस्तुतः स्वतः साहित्य-सृजनका प्रमुख उद्देश्य है।

गद्यके अन्य रूप

नवलेखनके तत्त्वावधानमें गद्यकें अन्य रूप भी विकसित हुए हैं, पर उनका महत्त्व केवल परिमाणकी दृष्टिसे आँकना भ्रमात्मक सिद्ध हो सकता है। यात्रा-संस्मरण, डायरीं, जर्नल तथा ललित निवन्धोंके क्षेत्रमें जो प्रयोग हुए हैं, उनकी ताज़गी विशेष रूपसे आकर्षित करती है। सामान्यतः वौद्धिक आभिजात्यसे विहीन ये गद्य-रूप औसत पाठकोंको भी रुचिकर सिद्ध हो सकते हैं। उनके लेखककी आत्मीयता व्यक्तित्व-विघटनके इस युगमें व्यापक तनावकी भावनासे मुक्ति देती है। इस अर्थमें ये साहित्य-रूप अधिक प्रजातान्त्रिक तथा मानववादी हैं।

यात्रा-वर्णन हिन्दी गद्यमें वहुत प्रारम्भसे मिलते हैं। पर उन सवकी प्रकृति मुख्यतः वर्णनात्मक तथा ऑब्जैक्टिव रही है। यात्रा विषयक नयी कृतियोंमें यात्रा तथा संस्मरणका वड़ा सुखद सम्मिश्रण हुआ है। अपरिचित स्थलों तथा व्यक्तियोंका संवेदनशील चित्रण और विश्लेषण—एक सहज और प्रायः अनौपचारिक शैलीमें, इन यात्रा-वर्णनोंकी अपनी विशेषता है। अकिंचन और सामान्य स्थितियों तथा क्षणोंका महत्त्व नवलेखनकी प्रकृति-के अनुरूप ही इस गद्य-रूपमें भी देखा जा सकता है। अज्ञेयके यात्रा-संस्मरण 'अरे यायावर रहेगा याद' (१९५३ ई०) नयी शैलीकी प्रथम सशक्ति कृति है।

इस स्थलपर एक प्रसंगेतर तथ्यका उल्लेख आवश्यक है। प्रस्तुत समीक्षा-कृतिमें कुछ ऐसे नाम मिल सकते हैं जो कमोबेश प्रायः सभी अध्यायोंमें चर्चित हुए हैं। अज्ञेयका नाम ऐसा ही है। नामोंकी पुनरावृत्तिके पीछे कोई पक्षपात नहीं है, यह सफ़ाई देना कुछ हास्यास्पद-सा लगता है। पर

यह भी समझा जाना चाहिए कि इन कुछ लेखकोंने, विशेषतः अज्ञेयने, साहित्यकी सभी विधाओंमें जो लिखा है सो इसलिए नहीं कि ये लेखक सजगरूपसे साहित्यके सभी अंगोंकी श्रीवृद्धि करना चाहते थे। यह स्थिति वस्तुतः नये लेखककी बहुमुखी जागरूकताका परिचायक है, उसके व्यक्तित्व-की समग्रताका सूचक है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, समीक्षा, यात्रा-संस्मरण, डायरी आदि विभिन्न काव्य-रूप एक ही लेखकके व्यापक व्यक्तित्वकी अभिव्यक्ति अपेक्षाकृत आसानीसे होने देते हैं। यों इन सभी माध्यमोंमें एक मूलभूत एकता भी है जो सर्जकके व्यक्तित्वकी मौलिक संवेदनासे तुलनीय है।

अस्तु, अज्ञेयका यात्रा-संस्मरण नये गद्यकी सामर्थ्यका द्योतक है। नये भाव-बोध तथा संवेदनोंको अभिव्यक्त करनेके लिए उनकी भाषा पर्याप्त रूपसे परिष्कृत तथा अर्थ-प्रवण है। अच्छी भाषाको लेखकने अपने आपमें एक उपलब्धि माना है। इसका कारण यह नहीं है कि अज्ञेय भाषाको भाव-विधानसे कोई अलग तत्त्व मानते हैं। एक संपृक्त रूपमें उभरनेपर भी रचनाकारका तन्त्र-कौशल या भाषा सतत परिष्करणकी अपेक्षा रखती है। इतनी अधिक चिन्ता रखनेके कारण ही अज्ञेयकी कविता, उपन्यास अथवा यात्रा-संस्मरणोंकी भाषा अलग-अलग रूपोंमें विकसित हुई है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनका गद्य अधिक पुष्ट, शिल्पित तथा समृद्ध है। 'अरे यायावर रहेगा याद' लेखककी विरल अनौपचारिकताका परिचायक है।

यात्रा-संस्मरणोंकी इस कलाको मोहन राकेश (१९२५ ई०) की 'आखिरी चट्टान तक' (१९५३ ई०) ने और विकसित किया है। 'वाण्डर लस्ट' शीर्षक आमुखमें लेखकने अपनी मानसिक यात्राओंके जो चित्र प्रस्तुत किये हैं, वे उतने ही यथार्थ हैं जितनी कि उसकी वास्तविक यात्राएँ। वह कहता है, "मुझे लगता है कि ये चित्र बहुत पहले पढ़ी हुई यात्रा सम्बन्धी पुस्तकोंके किन्हीं अंशोंकी छाप हैं, जिन्हें मैं वैसे भूल चुका

हूँ।" वाण्डर लस्टके द्योतक चित्रोंमेंसे पहला है—"दूर-दूर तक फैला हुआ एक खुला समुद्र तट है, जहाँ रेतमें जगह-जगह पत्थर और बड़ी-बड़ी चट्टानें हैं। फूटी सराय है। सरायमें रातको मटियाली-सी रोशनी होती है और उस रोशनीमें बैठकर कुछ जुआरी जुआ खेलते हैं। एक व्यक्ति जिसकी दाढ़ी डेढ़ दो महीनेकी उग रही है और जो आयुमें पचपन वर्षसे ऊपर लगता है, चिरमिराती हुई खानेकी मेज़पर कुहनियाँ टिकाये, एक लकड़ीकी कुर्सीपर बैठा कोई पुराना अख़बार पढ़ता है। मैं सामने बैठकर पानी पीता हुआ उसके अर्द्ध श्वेत बालोंको ध्यानसे देखता हूँ। ठण्डी हवाके एक-दो झोंके आते हैं, मेरे शरीरमें थोड़ी कँपकँपी आती है और मैं पानीका गिलास होठोंके पास रोककर मुसकराता हूँ, कि यह सब वैसे ही घटित हो रहा है, जैसे मैं उसकी कल्पना किया करता था····" स्वप्नके अन्दर स्वप्न जैसी यह स्थिति मूलतः रोमांटिक है। इससे लेखकका 'असाधारणके प्रति आकर्षण' व्यक्त होता है, जो प्रायः सभी यात्रा-प्रिय व्यक्तियोंकी मनःस्थितिका अनिवार्य अंग है। इस विशेष प्रकारकी मनःस्थितिका परिचय मूल यात्रा-संस्मरणके चित्रोंमें बड़े सशक्त ढंगसे मिलता है। अब्दुल जब्बारका जो पहला चित्र मिलता है वह बड़ी आसानीसे 'वाण्डर लस्ट'में परिगणित दिवा-स्वप्नोंकी कोटिमें रक्खा जा सकता है। सच तो यह है कि इन दिवा-स्वप्नों और संस्मरण-चित्रोंमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है। यथार्थ और कल्पनाके बड़े मोहक वातावरणमें इन यात्रा-संस्मरणोंका सृजन हुआ है।

'आखिरी चट्टान तक'में दक्षिण भारतकी यात्राके संस्मरण हैं। समुद्र, डोंगियों और मछलीमारोंके चित्र उत्तर भारतमें कुछ और भी आकर्षक लगते हैं। कभी-कभी वे लेखकके समान ही 'बहुत पहले पढ़ी हुई यात्रा सम्बन्धी पुस्तकोंके किन्हीं अंशोंकी छाप' से जान पड़ते हैं। केवल प्रकृतिके दृश्य पाठकको उबानेवाले सिद्ध हो सकते हैं, पर उनके साथ व्यक्तियोंके रेखाचित्र अनिवार्य मानवीय तत्त्वको प्रस्तुत करते हैं। प्रकृति और मानव-का यह सहचरण यात्रा-संस्मरणकी कलाका मूल रहस्य है। प्रस्तुत कृतिके

उपशीर्षक (हुसैनी, समुद्र तटका होटल, पंजाबी भाई, मलबार) इस स्थितिको और भी स्पष्ट करते हैं। किंतु इस समन्वित कलाके निर्वाहके लिए मात्र रोमाण्टिसिज़्म ही पूरा नहीं पड़ सकता। मानव-चरित्रमें एक अपनी दिलचस्पी होना इस काव्य-रूपकी रचना-प्रक्रियामें अनिवार्य है। मोहन राकेश इन दोनों शर्तोंको पूरा करते हैं। प्रकृतिके प्रति उनकी उन्मुक्त ललक और व्यक्तियोंके प्रति सहज आत्मीयताने उनके यात्रा-संस्मरणको सूचना और मनोरंजनके अतिरिक्त और गहरे आयाम प्रदान किये हैं। ये संस्मरण-चित्र लेखककी अनुभूतियोंका सफलतापूर्वक पुनःसृजन करते हैं। इस एक मौलिक अन्तरके कारण ही नये यात्रा-संस्मरण उपयोगी कला-से हटकर ललित-कलाके अंग बन गये हैं।

यात्रा-संस्मरणकी इस अपेक्षाकृत कठिन कलाको रघुवंशने फिरसे उठाया है। १९५८ ई० की 'कल्पना' तथा 'अजन्ता' के कुछ अंकोंमें उनके दो यात्रा-संस्मरण अलग-अलग धारावाहिक रूपसे प्रकाशित होते रहे हैं। 'हरी घाटी' हजारीबाग (बिहार) की यात्रा है और 'मृगमरीचिकाके देशमें' राजस्थानके कुछ हिस्सेका भ्रमण है। लेखककी कलाकी मौलिक आत्मीयता और सहजताने इन संस्मरणोंको अद्‌भुत भाव-प्रवणता प्रदान की है। यात्रा, रेखाचित्र, संस्मरण और इन सबका डायरीके रूपमें प्रस्तुती-करण—अभिव्यक्तिके ये सभी सरल माध्यम 'हरी घाटी' में सम्पृक्त भावसे सामने आते हैं। कथा-साहित्यके अतिरिक्त गद्यके शेष प्रायः सभी रूप इस यात्रा-संस्मरणमें एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। और इन सबसे ऊपर लेखककी शैलीकी सादगी है जो पाठकको विशेष रूपसे आकर्षित करती है।

रघुवंशके कथा-साहित्यकी सहज पारिवारिकता उनके यात्रा-संस्मरणोंमें भी द्रष्टव्य है। स्वीकृत गद्य-माध्यमकी अनौपचारिकताके साथ वह समूची कृतिकी भद्रता और आत्मीयताको और अधिक मार्मिक बना देती है। 'हरी घाटी' की प्रारम्भिक कई किश्तें यात्राकी तैयारी और तत्सम्बन्धी

मनःस्थितिको नये और अछूते ढंगसे प्रस्तुत करती हैं। व्यक्तिके सामान्य क्षणोंका संगत ढंगसे चित्रण पाठकके सहज सहभोगको आमन्त्रित करता है। इन स्थितियोंका अनुभावन उसे बोझीला नहीं लगता। यही कारण है कि आजकी विषम जीवन प्रक्रियामें साहित्यकी ये विधाएँ अधिक लोकप्रिय हो रही हैं। जीवन और साहित्यके संघर्षों तथा चरम सीमाओंसे ऊबा हुआ व्यक्ति सामान्य और सरल क्षणोंमें अधिक जीना चाहता है। रघुवंशके यात्रा-संस्मरण इस माँगको बड़ी अच्छी तरहसे पूरा करते हैं। इस प्रसंगमें एक अन्य उल्लेखनीय नाम प्रभाकर द्विवेदीका है, जिनकी रचना 'पार उतरि कहँ जइहौं' यात्रा-संस्मरणके विकासका एक नया और समर्थ चरण है।

यात्रा-संस्मरणकी सरल कलाका एक दूसरा रूप ललित निबन्धोंमें देखनेको मिलता है। हिन्दीमें इस प्रकारके निबन्ध पहले भी लिखे गये हैं, और उनकी शैलीमें परिवर्तनके कोई विशिष्ट लक्षण नहीं देखे जा सकते। इस प्रसंगमें कुट्टिचातनके नये विषयोंका चयन अवश्य उल्लेखनीय है। 'मार्ग दर्शन' इस दृष्टिसे एक अत्यन्त सफल रचना कही जा सकती है। विद्यानिवास मिश्र (१९२५ ई०) ने भी इस दिशामें विशेष कार्य किया है। उनके निबन्ध मूलतः भारतीय संस्कृतिके तत्त्वोंसे अनुप्राणित हैं, पर पाण्डित्यके बोझसे दबे नहीं हैं। 'छितवनकी छाँह' तथा 'प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी' शीर्षक निबन्ध संकलनोंमें लेखकके इसी प्रकारके निबन्ध प्रस्तुत हैं। विषय-वैभिन्न्य न होनेसे इन निबन्धोंकी एकरसता कभी-कभी खटकने लगती है। इस दृष्टिसे प्रभाकर माचवेके निबन्धोंका उल्लेख होना आवश्यक है, जो संख्यामें कम होनेपर भी नवलेखनकी प्रकृतिके कहीं अधिक निकट हैं।

डायरी तथा नोटबुक कुछ नये लेखकोंने प्रस्तुत की हैं। पुरानी परिपाटीके अनुसार ये सहज तथा अकृत्रिम ढंगसे लिखी नहीं कही जा सकतीं। उनका अन्तिम रूप बहुत कुछ सहज कौशलका परिणाम लगता है। वस्तुतः गद्यके ये सभी माध्यम स्वतन्त्र कलाके रूपमें विकसित हो रहे हैं, किये जा रहे हैं। अजितकुमार तथा लक्ष्मीकान्त वर्माकी डायरी इस नयी शैलीके

उदाहरणके रूपमें देखी जा सकती हैं। अजितकुमारने इस क्षेत्रमें विशेष रूपसे कार्य किया है और उनकी डायरी या नोट्स काफ़ी विभिन्न और अटपटी मनःस्थितियोंका परिचय देते हैं। समय-समयपर प्रकाशित उनकी डायरीके पृष्ठ आधुनिक गद्य शिल्पके श्रेष्ठ नमूने हैं। प्रमुख रूपसे कुछ साहित्यिक समस्याओंको लेकर लिखी गई शमशेरबहादुर सिंह तथा रघुवीर सहायकी लेखकीय नोटबुक इस क्षेत्रके नये प्रयोग हैं। दोनों लेखकोंने इस माध्यमसे कलाकारकी सृजन-प्रक्रियाके सम्बन्धमें कुछ महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। नोटबुकके एक अधिक व्यक्तिगत तथा विचार-प्रधान रूप 'जर्नल' का प्रयोग अज्ञेयने किया है। इन सभी माध्यमोंकी सम्भावनाओंकी ओर नये लेखकका ध्यान आकृष्ट हुआ है; उनकी परिपूर्णता निश्चय ही समय-साध्य है।

गद्यके कुछ अन्य नये माध्यमोंमें लक्ष्मीचन्द्र जैन ('जो वे स्वयं न कह पाये' शीर्षक रचना-माला), श्रीलाल शुक्ल (हास्य-व्यंग प्रधान निबन्ध) तथा रघुवीरसहाय (रिपोर्टिंग) ने विशिष्ट कृतियाँ प्रस्तुत की हैं। भाषागत अर्थ-क्षमताकी दृष्टिसे इन रचनाओंका योगदान उनके अपने कलात्मक मल्य जैसा ही महत्त्वपूर्ण है।

नवलेखनका वातावरण

नवलेखनका सृजन केवल पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओंके माध्यमसे नहीं हुआ है; वह समस्त साहित्यिक वातावरणमें छा गया है। इन जीवन्त प्रक्रियाओंका अध्ययन नवलेखनके आंदोलनको समझनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है, यद्यपि इस प्रकारके अध्ययन और विश्लेषणमें प्रक्रियाओंका जीवंत रूप कहाँ तक सुरक्षित रह सकेगा, यह कहना कठिन है। नये साहित्यकारके लिए साहित्य-सृजन एक पूरे समयका कार्य है। प्रेरणाके कुछ चुने हुए क्षणोंके स्थानपर वह संपूर्ण जीवनको ही रचनात्मक व्यापारके रूपमें स्वीकार करता है। इसीलिए नवलेखनके बहुतसे सूक्ष्म तत्त्व आधुनिक साहित्यिक वातावरणमें घुल-मिल गये हैं। या यों कहना चाहिए कि इस प्रकारका वातावरण हिंदीमें सम्भवतः पहली वार बना है।

नवलेखनके इस वातावरणको निर्मित करनेमें विभिन्न प्रकारकी साहित्यिक गोष्ठियोंका बड़ा हाथ रहा है। यह सही है कि नये लेखकोंके इन संघोंने बहुत-सी अवांछनीय प्रवृत्तियोंको भी पोषित किया है। पर कुल मिलाकर उनके अस्तित्वने आधुनिक साहित्यकी मौलिक भाव-भूमिको अधिक विकसित किया है। प्रारम्भमें इनमेंसे अधिकांश संघ मुख्य रूपसे वीर-पूजाकी भावनाको लेकर चले थे। किन्तु कुछ पकनेपर इन संस्थाओंने यह अनुभव किया कि उनके बौद्धिक अभियानमें यह दृष्टिकोण बहुत मेल नहीं खाता। और इस प्रकार धीरे-धीरे अभिनन्दनों तथा जयन्तियोंका स्थान परिसंवादों तथा उन्मुक्त विचार-विमर्शने ले लिया।

नये लेखकोंके इन संघोंमें परिमल, प्रयाग (१९४४ ई०) का हिन्दी-नवलेखनसे घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। सच तो यह है कि नवलेखन वर्गके

अधिकांश लेखक किसी-न-किसी रूपमें परिमलसे सम्बद्ध रहे हैं। 'नये पत्ते', 'नयी कविता' तथा 'निकष' जैसी नवलेखनकी प्रतिनिधि पत्रिकाएँ और संकलन परिमलके सदस्यों द्वारा परिचालित रही हैं। 'आलोचना' त्रैमासिकको नये साहित्य-चिन्तनका माध्यम बनानेमें भी उसके दूसरे सम्पादक-मण्डलका विशिष्ट योग रहा है, जिसके तीन सहयोगी परिमलके सदस्य थे। इसके अतिरिक्त 'व्यक्ति स्वातन्त्र्य तथा सामाजिक दायित्व' और 'लेखक तथा राज्य' जैसे आधुनिक विषयों पर परिसंवाद भी परिमलने आयोजित किये थे। इस दृष्टिसे नवलेखनके साहित्यिक सृजनमें तथा उसका वातावरण बनानेमें परिमलने अपने ऐतिहासिक दायित्वका निर्वाह किया है।

प्रयागके कुछ उत्साही नये लेखकों द्वारा संस्थापित तथा परिचालित आधुनिक हिन्दी साहित्यकी सर्वाधिक चर्चित संस्था परिमल अपने जन्मकालसे ही नवीन प्रवृत्तियोंकी वाहक रही है। प्रगतिवाद और प्रयोगवादके संधि-कालमें प्रारम्भ होकर उसको परिपूर्णता नयी कविता तथा नवलेखनके विकासमें मिली। साहित्यको राजनैतिक तथा साम्प्रदायिक वादोंसे मुक्त करके परिमलने उसे जिस ढंगसे मानववादी धरातलपर प्रतिष्ठित किया वह मानो नये हिन्दी साहित्यके सन्दर्भमें प्रौमेथ्यूज़की कथाकी पुनरावृत्ति है। यद्यपि अपने इस यत्नके लिए भी उसे पक्षधर ठहरानेकी पूरी कोशिश की गई। पर परिमलकी सम्पूर्ण प्रजातन्त्रात्मक गतिविधिने सदैव यह स्पष्ट किया है कि यदि वह किसीके पक्षमें है तो साहित्य और मानव-व्यक्तित्वके पक्षमें है। राजनीतिको उसने अस्पृश्य नहीं माना, पर उसका एक संपृक्त रूप विचारोंके साहित्यमें पोषित किया।

विशिष्ट परिसंवादोंके अतिरिक्त परिमलकी सामान्य गोष्ठियोंमें भी उन्मुक्त जिज्ञासाका स्वर बराबर जाग्रत रहा है। कृति साहित्य तथा समीक्षा दोनों प्रकारकी गोष्ठियाँ अपने निर्भीक परन्तु मूलतः सहानुभूतिपूर्ण वातावरणके लिए प्रसिद्ध रही हैं। पर साहित्यमें गम्भीर निष्ठा और

मौलिक बौद्धिक दृष्टिकोणके बावजूद परिमलका अनौपचारिक वातावरण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उन्मुक्त बोलनेका अधिकार और खुलापन परिमलकी किसी भी गोष्ठीकी पहली शर्त रही है। साहित्येतर सन्दर्भों-को उसने कभी स्वीकार नहीं किया। यदि प्रदेशके राज्यपाल भी उसमें आमंत्रित हुए हैं तो साहित्यकारके रूपमें, राज्यपालके रूपमें नहीं। साहित्यको राजनीतिकी दासता उसने कभी नहीं मानने दी। परम्परावादी तथा राजनीतिक लेखकोंका कोप-भाजन उसे प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूपसे बराबर रहना पड़ा है, पर 'परिमल' स्वतः शिथिल भले ही हो गया हो, उसने घुटने नहीं टेके, आत्मसमर्पण नहीं किया।

इन कई दृष्टियोंसे हिन्दी नवलेखन तथा परिमलकी मौलिक मान्यताएँ एक-सी रही हैं। बहुतसे विधानों तथा बाह्य रीतियोंसे जकड़ना दोनोंको ही स्वीकार नहीं रहा। बौद्धिक स्वातन्त्र्य उनके किसी स्तरपर गठनकी पहली माँग है। इस मौलिक स्वातन्त्र्य और दायित्वकी भावना तथा व्यक्तित्वकी सुरक्षापर ही परिमलके सदस्य एकमत कहे जा सकते हैं। और यही स्थिति नवलेखनकी है, जिसमें अनेक विचार-धाराओंके लेखक एक दिशाकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। परिमलके मुख्य मञ्चके अतिरिक्त कॉफ़ी हाउस तथा रेस्तराओंकी गोष्ठियाँ भी विचारोंके अभियानमें अपने ढंगसे सहयोग देती रही हैं, जहाँ विभिन्न वर्गोंके लेखक बिना किसी संकोच तथा औपचारिकताके बातचीत करते हैं। स्पष्ट ही इस प्रकारकी गोष्ठियोंपर कोई रिपोर्ट प्रस्तुत नहीं की जा सकती, परन्तु अप्रत्यक्ष रूपसे उनका प्रभाव नये लेखकोंकी भाव-भूमिपर बराबर पड़ता रहता है। नवलेखनके वातावरणके सूक्ष्मतम तत्त्वोंका निर्माण इन पूरक गोष्ठियों द्वारा सबसे अधिक होता है। साहित्यकी जागरूकताको बनाये रखनेमें इन गोष्ठी संलापोंका योग अप्रतिम है।

परिमल (प्रारम्भमें जिसकी शाखाएँ कई नगरोंमें थीं) के अतिरिक्त प्रगतिशील लेखक संघकी बैठकोंने नये साहित्यके विकासमें अपना सहयोग

दिया है। एक सीमित दृष्टिकोण रखनेपर भी साहित्यके कुछ पहलुओंको लेकर उनकी चर्चाओंके महत्त्वको अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। प्रयाग तथा लखनऊकी शाखाओंने इस सम्बन्धमें विशेष कार्य किया है। देश-विभाजन के समय सांस्कृतिक जागृति तथा एकताके लिए प्रगतिशील लेखक संघने जो यत्न किये थे, उनका नये लेखकोंपर काफ़ी स्वस्थ प्रभाव पड़ा। नये लेखकों-की अन्य गोष्ठियोंमें लेखक संघ (लखनऊ), साहित्यकार संघ (वाराणसी) तथा चेतना (वाराणसी) विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं।

•

नवलेखनकी चेतनाको व्यापक बनानेमें परिमल तथा कुछ अन्य साहित्यिक संस्थाओंके तत्त्वावधानमें हुए परिसंवादों और परिगोष्ठियोंने महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इस प्रकारके आयोजनोंमें सबसे पहला था परिमलका 'व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य तथा सामाजिक दायित्व' विषयपर परिसंवाद। १९५५ ई० के बसन्तमें परिमलने इस विषयपर एक आलेख प्रस्तुत करके उसके आधारपर एक द्विदिवसीय चर्चाका आयोजन किया था। एक बड़ी संख्यामें हिन्दीके नये तथा पुराने लेखक इस विचार-विमर्शमें सम्मिलित हुए। स्वातन्त्र्य तथा दायित्वको अविच्छिन्न मूल्यके रूपमें स्वीकार करते हुए परिमलने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष ढंगके विचार-नियन्त्रणके खतरोंकी ओर संकेत किया था। दायित्वकी अनुभूतिके लिए स्वतन्त्र मानव व्यक्तित्वकी सत्ता अपेक्षित है। अतः मानव व्यक्तित्वकी सुरक्षा सांस्कृतिक मूल्योंके विकासकी आधार-शिला है।

१९५६ ई० के वर्षान्तमें नई दिल्लीमें आयोजित एशियाई लेखक सम्मेलनके एक आयोगमें भी इस महत्त्वपूर्ण विषयको विचारके लिए प्रस्तुत किया गया था। वस्तुतः यह लेखक-सम्मेलनका प्रमुखतम आयोग था। पर परिमल परिसंवाद जैसा सुगठित विचार-विमर्श दिल्लीकी भीड़-भाड़में सम्भव

नहीं था। वहाँ विषयके सैद्धान्तिक और दार्शनिक पक्षोंपर बल देकर ही बात मानो समाप्त कर दी गई। हिन्दीके कई महत्त्वपूर्ण नये लेखकोंने एशियाई-सम्मेलनके विचार-विमर्शमें भाग लेकर अपने पक्षको प्रस्तुत किया। इन दोनों विचार-विनिमयोंके फलस्वरूप इस सामयिक महत्त्वके प्रश्नकी ओर अधिकाधिक लोगोंका ध्यान आकृष्ट हुआ।

'व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य तथा सामाजिक दायित्व' के एक विशिष्ट पहलूको लेखकोंके सन्दर्भमें परिमलने फिरसे प्रस्तुत किया। १९५७ ई० के ग्रीष्मारम्भमें प्रयागमें एक त्रिदिवसीय परिगोष्ठीका आयोजन करके परिमलने 'लेखक तथा राज्य' विषयको विचारार्थ सामने रखा। इस आयोजनमें हिन्दीकेअतिरिक्त वंगाली, मराठी, गुजराती, उड़िया, असमी, कन्नड़, उर्दू तथा अंग्रेज़ीके लेखकोंने स्वतः उपस्थित होकर तथा पत्र-व्यवहारके माध्यमसे भाग लिया। पहली वार देश-व्यापी स्तरपर इस समस्याके असाधारण महत्त्वको लोगोंने समझा। ताराशंकर वन्द्योपाध्याय (वंगाली), सुन्दरम् (गुजराती), आर० वी० जोशी, प्रभाकर पाध्ये, लक्ष्मण शास्त्री जोशी (मराठी), बी० के० भट्टाचार्य (असमी), शिवराम कारंथ (कन्नड) प्रभृति प्रान्तीय भाषाओं-के लेखक नये हिन्दी साहित्य-चिन्तनके प्रति आशंसा और कृतज्ञताका भाव लेकर वापस गयें। भाषाई स्तरके भेदोंको भुलाकर लेखकोंके मनमें एक व्यापक चेतना और सौहार्द्र विकसित हुआ। प्रकारान्तरसे विभिन्न भाषाओं-के नवलेखनकी तुलना और विवेचना हुई। चार आयोगोंमें विभक्त इस परिगोष्ठीकी एक संक्षिप्त रिपोर्ट परिमलने बादमें प्रकाशित की है। आयोजनके प्रारम्भमें विषयसे सम्बद्ध एक विस्तृत प्रश्नावली तथा विभिन्न लेखकोंसे प्राप्त उत्तर विचारार्थ प्रस्तुत किये गये थे।

'लेखक तथा राज्य' से सम्बद्ध परिमल परिगोष्ठीकी भारतीय प्रेसमें व्यापक समीक्षा हुई। नये उगते प्रजातन्त्रके सन्दर्भमें बुद्धिजीवियोंपर राजनीतिके हावी हो जानेके विभिन्न परिणामोंकी ओर महत्त्वपूर्ण संकेत किये गये।

संरक्षण सम्बन्धी मध्यकालीन सामन्तीय भावनाको आधुनिक युगके सन्दर्भमें लेखककी स्वतन्त्रताके प्रतिकूल माना गया। परिमल द्वारा आयोजित यह दूसरी परिगोष्ठी विचारोंके साहित्यकी एक सशक्त अभिव्यक्ति थी। पहले परिसंवादकी अपेक्षा यह परिगोष्ठी अपनी प्रकृतिमें व्यावहारिक समस्याओंको लेकर अधिक चली थी।

'व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य तथा सामाजिक दायित्व' और 'लेखक तथा राज्य' जैसे विषयोंपर विचार-विनिमय आयोजित करनेवाली संस्था परिमलको कई क्षेत्रोंसे कटु आलोचनाका भी सामना करना पड़ा। पुराने परम्परावादी लेखक इन खतरनाक विषयोंपर कोई स्पष्ट मत नहीं देना चाहते थे; मुख्यतः इसीलिए वे इन सारे आयोजनोंके प्रति सशंक तथा असंतुष्ट थे। दूसरे, विचारोंके इस साहित्यको ठीक-ठीक समझनेके लिए उनके पास उपयुक्त साधन भी नहीं थे। कम्यूनिस्ट लेखक इन परिगोष्ठियोंके पीछे अमेरिकन दुरभिसन्धि देख रहे थे, और दिखानेकी कोशिश भी कर रहे थे। स्थापन इन नये लेखकोंकी निर्भीकतासे अप्रसन्न था। यहाँ तक कि सामान्य प्रकाशक भी बहुत दूर तक इनका साथ देनेको तैयार न थे। पर इन विषम परिस्थितियोंमें नये लेखकोंने साहस नहीं छोड़ा। सहकारी प्रकाशनके बलपर उन्होंने अपना मन्तव्य बराबर साहसपूर्ण ढंगसे व्यक्त किया। स्वभावतः ही परिमलके हिस्सेमें इस निर्बल क्रोधका भाग सबसे अधिक आया था। पर हर खतरेको स्वीकार करके भी नये लेखकोंके इस संघने अपनी मौलिक मान्यताओंके प्रति विश्वासको अडिग रक्खा। इन प्रतिभाशाली कलाकारोंने कोई समझौता स्वीकार नहीं किया। सैद्धान्तिक संघर्षोंके युगमें नई पीढ़ीने अपनी ईमानदारीको अधिक ऊँचा साबित किया।

परिमल परिगोष्ठियों तथा एशियाई लेखक सम्मेलनके बाद १९५७ ई० के वर्षान्तमें कलकत्तामें भी एक अखिल भारतीय लेखक सम्मेलनका आयोजन हुआ। पर इसके पीछे मुख्य रूपसे भाषा सम्बन्धी विवादके

उद्देश्य थे। और इसीलिए विचारात्मक साहित्यकी चर्चा वहाँ कम हुई। इस सम्मेलनके कुछ पहले प्रयागमें एक वृहत् लेखक सम्मेलन बुलाया गया। यह सम्मेलन मुख्यतः हिन्दीके कुछ नये लेखकों द्वारा परिचालित था, और हिन्दी लेखकोंमें ही सीमित था। प्रगतिशील लेखक संघके कुछ नये और कर्मठ सदस्योंने यह आयोजन प्रस्तुत किया था, यद्यपि इसके लिए किसी संस्थाका तत्त्वावधान नहीं लिया गया था। इस लेखक-सम्मेलनके समक्ष प्रधानतः नये साहित्यकी कुछ समस्याएँ थीं, जिनपर काफ़ी व्यापक ढंगसे विचार-विनिमय हुआ। किसी केन्द्रीय समस्याके न होनेके कारण सम्मेलनकी कार्यवाही बहुत सुगठित और संतुलित तो न हो सकी, पर नवलेखनकी कई शाखाओंके शिल्प-पक्षपर इस आयोजनमें कुछ अच्छे और विचारोत्तेजक पत्रक पढ़े गये तथा उनपर विचार-विमर्श भी हुआ। इस लेखक सम्मेलनमें काफ़ी बड़ी संख्यामें हिन्दीके सभी वर्गोंके लेखक जमा हुए। पर इतनी बड़ी उपस्थितिका उतना संतोषप्रद लाभ नहीं उठाया जा सका।

हिन्दी नवलेखनकी प्रवृत्तियाँ प्रथमतः पत्र-पत्रिकाओंमें परिलक्षित हुई हैं। कृति साहित्य तथा समीक्षात्मक वाद-विवाद पहले सामयिक पत्रिकाओं-में स्थान पाकर विकसित हुए हैं। हिन्दीकी नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ अज्ञेय द्वारा सम्पादित 'प्रतीक' (१९४६) में विशेष रूपसे पुष्ट हुई थीं। प्रयोगवादी साहित्यका वह मुख पत्र कहा जा सकता है। द्वितीय महायुद्धके आस-पासकी नयी साहित्यिक चेतना 'प्रतीक' के माध्यमसे ही सबसे पहले मुखरित हुई थी। और इसीलिए 'तारसप्तक' के साथ-साथ 'प्रतीक' का भी आधुनिक साहित्यको एक विशिष्ट मोड़ देनेमें ऐतिहासिक योग रहा है।

नवलेखनके लिए 'प्रतीक' ने पृष्ठभूमिका ही कार्य किया है। सजग रूपसे यह नवोन्मेष पहले रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा तथा बादमें लक्ष्मीकान्त वर्माके सहयोगमें सम्पादित 'नये पत्ते' (१९५३) में प्रतिफलित हुआ था। 'प्रतीक' का प्रकाशन तो कई वर्षोंतक चला था, पर 'नये पत्ते' चार अंकों के बाद ही बन्द हो गया। किन्तु कुछ ही समय बाद यह अवरुद्ध रचनात्मक उन्मेष जगदीश गुप्त तथा रामस्वरूप चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित 'नयी कविता' (१९५४ ई०) में अभिव्यक्त हुआ। नवलेखनके आन्दोलनको एक सुस्थिर रूप देनेमें अकेले इस एक अर्द्धवार्षिक संकलनने जितना योग दिया, उतना योग कई व्यक्तिगत संकलन मिलकर नहीं दे सके। 'नयी कविता' के साथ साहित्यिक संकलनोंकी एक महत्त्वपूर्ण शृंखलाका भी आरम्भ हुआ जो अब तक चल रही है। अन्य पत्र-पत्रिकाओंमें 'कल्पना', 'युगचेतना', 'ज्ञानोदय', 'राष्ट्रवाणी' प्रभृतिने नवलेखनकी रचनाओंके महत्त्वको समझ-कर उन्हें विशिष्ट रूपमें प्रकाशित किया।

पर नवलेखनकी धारा आगे चलकर संकलनोंमें अधिक गति प्राप्त कर सकी। 'नयी कवित्ता' नये लेखकोंको बहुत-सी स्थितियोंको स्पष्ट कर चुकी थी। विभिन्न नये कवियोंकी रचनाएँ प्रस्तुत करनेके साथ-साथ 'नयी कविता' ने कुछ महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रश्नोंपर हिन्दीके नये समीक्षकोंके विचार भी सामने रक्खे थे। अब तक कुल तीन अंक प्रकाशित होनेपर भी 'नयी कविता' जितनी अधिक चर्चित रही है, आधुनिक हिन्दी साहित्यमें उतनी चर्चा शायद किसी भी एक कृतिकी नहीं हुई। अपने विपक्षियों और विरोधियोंमें भी वह एक नवीन चेतनाका संचार कर सकी है। नवलेखनको पहली प्रतिष्ठा 'नयी कविता' के माध्यमसे मिली।

इस शृंखलाकी दूसरी महत्त्वपूर्ण और सशक्त कड़ी 'निकष' थी। नये साहित्यकी सभी विधाओंको प्रतिफलित करने वाला यह अर्द्धवार्षिक संक-लन एक विशिष्ट और आकर्षक रूपमें धर्मवीर भारती तथा लक्ष्मीकान्त वर्माके सम्पादनमें १९५५ ई० में प्रकाशित हुआ। 'निकष' ने नवलेखनको

कुछ और अधिकार तथा आत्मविश्वासके साथ प्रस्तुत किया। नवलेखनकी कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा उत्कृष्ट कृतियाँ पहले 'निकष' में ही प्रकाशित हुई हैं। यह संकलन वस्तुतः पुस्तक-पत्रिकाके रूपमें नवलेखनके समर्थकों द्वारा अपनी बातको कहनेका अधिक सजग प्रयत्न था। 'नयी कविता' सहकारी प्रकाशनके क्षेत्रमें प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयोग था। प्रयागके नये लेखकोंके संस्थान 'साहित्य सहयोग' के तत्त्वावधानमें इसका प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। 'निकष' 'साहित्य सहयोग' का दूसरा प्रयत्न था, पर एक प्रकाशकका सहयोग उसे मिल सका था; यद्यपि वहुत दिनों तक वह नहीं चल सका। 'निकष' के अभी तक कुल चार अंक प्रकाशित हुए हैं जिनमें अन्तिम संयुक्तांक था। किन्तु इन चार अंकोंमें ही हिन्दी नवलेखनके कृति पक्षका बड़ा श्रेष्ठ प्रतिनिधित्व हुआ है, साथ ही नये लेखकोंका व्यापक सहयोग भी उसे प्राप्त हो सका है।

अन्य साहित्य संकलनोंमें 'कविता', 'सूत्रधार', 'विविधा', 'समवेत', 'सृजन', 'क्षितिज', 'आधार', 'कृति', 'संकेत' तथा 'हंस' महत्त्वपूर्ण हैं। 'कविता' और 'विविधा' प्रमुखतः नयी कविताओंके संकलन हैं। 'सूत्रधार' में नाट्य कृतियोंको प्रमुखता मिली है, और 'आधार' में ललित कलाओंके विवेचनको। शेष संकलनोंमें साहित्यकी प्रायः सभी विधाएँ रक्खी गई हैं। इनमेंसे 'संकेत' तथा 'हंस' आकार और आयोजनकी दृष्टिसे बड़े और महत्त्वाकांक्षी संकलन हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के सम्पादनमें प्रकाशित 'संकेत' मात्र वर्ष भरकी कृतियोंका संकलन है; व्यापकताका उसमें अभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। संकलनकी अपेक्षा उसे संग्रह कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। 'हंस' के सम्पादक-द्वय बालकृष्ण राव तथा अमृतरायने एक विशेष दृष्टिसे सामग्रीका चयन किया है। तथाकथित प्रगतिशील दृष्टिकोण उसमें विशेष रूपसे उभर कर आया है। कुल मिलाकर नये लेखकोंके एक विशिष्ट वर्गका वह अच्छा प्रतिनिधित्व करता है।

उपर्युक्त संकलनोंमेंसे अधिकांशकी दृष्टि सीमित रही है। पर अलग-अलग पक्षोंको प्रतिफलित करते हुए भी सबको मिलाकर एक साथ देखनेपर नवलेखनका काफ़ी प्रतिनिधि रूप देखनेको मिल जाता है। यदि 'नयी कविता' और 'निकष' की भाँति समूचे नये कृतित्व और नयी विचार-धाराको प्रदर्शित करनेवाले संकलन और निकल पाते तो नवलेखनका स्वरूप कुछ और सुगठित हो पाता। किंतु मौलिक मान्यताओंके साथ-साथ विभिन्न पक्षोंका अध्ययन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। इस दृष्टिसे ये छोटे-बड़े संकलन एक-दूसरेके पूरक सिद्ध होते हैं, और इसी रूपमें इन्हें ग्रहण करना चाहिए। पर इनमेंसे कुछकी संकीर्णता तो निश्चय ही अहितकर है।

विभिन्न तत्त्वावधानोंमें आयोजित संकलनोंके अतिरिक्त कविताओं तथा कहानियोंके वार्षिक संकलन भी प्रकाशित हुए हैं। इनमें आधुनिकताके स्थानपर समसामयिकताका आधार अधिक प्रधान है। अजितकुमार तथा देवीशंकर अवस्थीके सम्पादनमें 'कविताएँ : १९५४' इस प्रकारका प्रथम प्रयास था। बादमें रामबहादुर सिंह 'मुक्त', सुरेन्द्र चतुर्वेदी तथा वसन्तदेवके सहयोगमें कहानी और कविताओंके दो वार्षिक संकलन और प्रकाशित हुए। विशिष्ट सम्पादकीय दृष्टि न होनेपर भी ये संकलन नवलेखनकी प्रवृत्तियोंको प्रतिविम्बित करते हैं, क्योंकि समसामयिक साहित्यमें आधुनिक और जीवन्त धारा नवलेखनकी ही है।

समुचित आर्थिक सहयोगके अभावमें इस प्रकारके संकलन दो-तीन अंकोंसे अधिक नहीं चल पाते। इनके कारण प्रकाशित और मुद्रित साहित्यका महत्त्व भी कभी-कभी घटता जान पड़ता है, परन्तु उनके माध्यमसे नये लेखककी रचनात्मक स्फूर्ति और उन्मेषका अच्छा परिचय मिलता है। नवलेखनके प्रति जागरूकता उत्पन्न करनेमें इन संकलनोंका योग रहा है। पर कभी-कभी पारस्परिक लांछन और द्वेषकी प्रवृत्ति भी इनमें व्यक्त हुई है।

नयी विचारधाराओंकी अभिव्यक्तिका एक और माध्यम कुछ पत्र-पत्रिकाओंने प्रस्तुत किया है। कुछ विशिष्ट विषयों (व्यक्ति स्वातन्त्र्य और

जनहित, लेखक तथा राज्य-संरक्षण, नई पीढ़ी-पुरानी पीढ़ी, धुरीहीनता) पर विवाद तथा परिसंवाद परिचालित करनेके अतिरिक्त इन पत्रिकाओंने टिप्पणियोंका भी एक क्रम चलाया है। स्फुट और सामयिक दिलचस्पीके विषय इन टिप्पणियोंमें चर्चित होते हैं। समसामयिक साहित्य और कलासे सम्बन्धित विचारोंको व्यक्त करनेके लिए कुछ कॉलम अलगसे निर्धारित रहते हैं। सामान्य पाठकों और समीक्षकोंके विचारोत्तेजनका यह एक अच्छा माध्यम सिद्ध हुआ है। 'कल्पना', 'युगचेतना', 'ज्ञानोदय' प्रभृति पत्रिकाएँ इस प्रकारकी टिप्पणियोंको अतिरिक्त रुचिके साथ प्रकाशित करती हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण परन्तु छोटी-मोटी समस्याओंकी ओर ध्यान आकृष्ट करनेमें ये टिप्पणियाँ विशेष रूपसे सफल हुई हैं।

आकाशवाणीके माध्यमसे प्रस्तुत साहित्यके श्रव्य रूपकी चर्चाके बिना यह अध्याय अधूरा ही रहेगा, यद्यपि अपने-आपमें यह एक स्वतन्त्र विवेचन का विषय है। वातावरणके साथ आकाशवाणीका घनिष्ट सम्बन्ध यों भी है। सामान्यतः साहित्यके प्रस्तुतीकरणके अतिरिक्त इस आधुनिक माध्यम-ने नवलेखनके कुछ पक्षोंको भी विकसित किया हैं। ध्वनि नाट्यकी शैलीमें नवलेखनकी कई कृतियाँ अधिक प्रभावोत्पादक रूपमें प्रस्तुत हुई हैं। 'कल्पान्तर' (गिरिजाकुमार माथुर), 'अन्धायुग' (धर्मवीर भारती), 'सूखा सरोवर' (लक्ष्मीनारायण लाल) तथा 'अर्थ पुरुष' (लक्ष्मीकान्त वर्मा) ध्वनि-प्रसारणकी दृष्टिसे सफल रचनाएँ सिद्ध हुई हैं। सुमित्रानन्दन पन्त और डॉ० रामकुमारवर्माके बाद गिरिजाकुमार माथुर ('जनम क़ैद'), भारतभूषण अग्रवाल('और खाई बढ़ती गई') तथा सिद्धनाथ कुमार ('सृष्टिकी साँझ')के ध्वनि-रूपकोंका उल्लेख इस प्रसंगमें आवश्यक है। नयी कविताके सम्बन्धमें अज्ञेयका ध्वनि-संवाद ऐतिहासिक महत्त्वका है। पन्तजी द्वारा प्रोत्साहित और प्रयागसे प्रसारित 'नयी कविता'की गोष्ठियाँ साहसपूर्ण प्रयोग थीं।

ध्वनि-नाटकके अतिरिक्त वार्त्ताओं तथा परिसंवादोंके माध्यमसे भी आकाशवाणीने नवीन विचार-पद्धतियोंके विकासमें योग दिया है। प्रयोग-

वाद तथा नयी कविताके सम्बन्धमें आकाशवाणी, इलाहाबादके कई परि-संवाद नये साहित्य-चिन्तनके विशिष्ट अंग हैं। नयी कविताकी गोष्ठियों और नये साहित्यकी ध्वनि-पत्रिकाओंका विशिष्ट महत्त्व है। हिंदीके कई साहित्यकारोंके आकाशवाणीके अंतर्गत कार्य करनेका यह एक वांछनीय प्रभाव है। इस प्रसंगमें सुमित्रानंदन पंत, गिरिजाकुमार माथुर, भारत-भूषण अग्रवाल और नरेश मेहता, विशेष रूपसे पंत और माथुर, जैसे लेखकोंका आयोजन अनिवार्यतः उल्लेखनीय है। वैसे अधिकांश नये लेखक किसी न किसी रूपमें आकाशवाणीसे संबद्ध रहे हैं। भवानी मिश्र, सत्येन्द्र शरत्, सर्वेश्वर, राजनारायण विसारिया, रमानाथ अवस्थी प्रभृति लेखकोंने रेडियो-माध्यमको उसके वास्तविक रूपमें पहिचाना है।

प्रचार, प्रसार और चर्चाके जितने माध्यम तथा साधन नवलेखनको उपलब्ध हैं, उतने इसके पूर्वके किसी भी उन्मेषको प्राप्त न थे। इसके अति-रिक्त नवलेखनका मानव जीवनसे सीधा संबंध उसे अधिक वास्तविक और 'एंगेज्ड' बना देता है। मानव-नियति और परिपूर्णताके संबन्धमें उसकी चिन्ता उसे पिछले सभी साहित्य आन्दोलनोंसे भिन्न कर देती है। जीवनो-न्मेष और साहित्यिक कृतित्वका यह घनिष्ट संबन्ध नवलेखनको सम-सामयिक वातावरणसे विशेष रूपसे संपृक्त बनाये हुए है। इसीलिए नवलेखनकी उपलब्धियाँ और संभावनाएँ पुस्तकोंके अतिरिक्त अन्य बहुतसे उपादानोंमें निहित हैं, जो मानवीय विकासकी प्रक्रियाके अभिन्न अंग हैं। कंसर्न, कमिटमेंट तथा एंगेजमेंटके जटिल और आधुनिक प्रश्न नवलेखनके इस जीवंत वातावरणके संदर्भमें अधिक संगत और विवेचनीय लगते हैं, क्योंकि ये सभी समस्याएँ विकसनशीलतासे संबद्ध हैं। नया जागरूक पाठक सबसे पहले इस वातावरणके संपर्कमें आता है, पर बादमें भी यह इसके महत्त्वको कम नहीं कर पाता। नवलेखन एक जीवित प्रक्रिया है, अतः उसका वातावरण सहज-स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य भी है।

७

नवलेखनका शिल्प

नवलेखनके शिल्पके प्रश्नको अलगसे उठानेका यह अर्थ नहीं कि यह शिल्प नये भावोन्मेषसे कोई अलग तत्त्व है, या ऊपरसे आरोपित है। वास्तविक कलामें भाव और शिल्पका संपृक्त होना अनिवार्य शर्त है। यह अवश्य है कि नवलेखनका शिल्प अधिक सुचिन्तित है, पर सजग नहीं। दूसरी ओर यह कहना भी ग़लत है कि नवलेखन मुख्यतः शिल्पगत आंदोलन है। छायावादके संबंधमें आचार्य रामचन्द्र शुक्लके कथनकी यह पुनरावृत्ति वस्तुतः नये संदर्भोंमें निराकरणकी भी अपेक्षा नहीं रखती।

हिंदी नवलेखनका उदय परिवर्तित जीवन-दृष्टिकोणको लेकर हुआ। पर रचनात्मक प्रक्रियाके क्षेत्रमें प्रेरणाके रहस्यवादी क्षणको मान्यता न दे पानेके कारण नया लेखक शिल्पको भी आनुपातिक महत्त्व देता है। शिल्प-प्रयोगकी संभावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक होनेके कारण इस दिशामें उसकी प्रतिभाके निखारको बराबर अवसर मिला है। शिल्प उसके लिए चमत्कार-प्रदर्शनका साधन न होकर अपनी बातको अधिक उपयुक्त और संगत ढंगसे कहनेका माध्यम है।

विभिन्न साहित्य-रूपोंके शिल्पकी विवेचना अलग-अलग की गई है। पर ऊपरसे भिन्न दीखनेवाली इन शिल्प प्रणालियोंमें एक मौलिक एकता है, क्योंकि वे कलाकारकी मूलभूत संवेदनासे उद्भूत हैं। अतः शिल्पके कुछ तत्त्व ऐसे हैं, जो प्रमुखतः नवलेखनकी विशेषता कहे जा सकते हैं और जिनकी व्याप्ति सम्पूर्ण नये साहित्यके परिवेशमें है। ऐसे तत्त्व बहुत सूक्ष्म नहीं हो सकते, यह तो स्पष्ट ही है।

नवीन कृति साहित्यमें आन्तरिक संवेदनासे संपृक्त वातावरण मिलता है। ध्वनियों, विराम-चिह्नों, प्रतीकों और अभिप्रायोंका चयन इस दृष्टिसे किया जाता है कि यह परिव्याप्त वातावरण बराबर बना रहे। पर साथ ही उसमें विशेष भावात्मक गहराई भी वांछनीय नहीं मानी जा सकती। मूल संवेदनाकी अपेक्षा वातावरण अधिक प्रधान न हो जाए, इस सम्बन्धमें सावधानी बरतनी पड़ती है। सर्वेश्वरकी 'सरकंडेकी गाड़ी' शीर्षक कविता, लक्ष्मीकान्त वर्माका उपन्यास 'खाली कुर्सीकी आत्मा', धर्मवीर भारतीका काव्य-नाटक 'अन्धा युग' और नरेश मेहताके नाटक 'सुबहके घण्टे' में इस प्रकारका तटस्थ परन्तु सक्रिय वातावरण देखा जा सकता है। रघुवीर सहायकी कविताएँ और कहानियाँ इस वातावरणकी अनुभूतिकी दृष्टिसे अच्छे उदाहरण हैं। उपन्यासमें अन्य माध्यमोंकी अपेक्षा वातावरणका यह आभास अपेक्षाकृत अधिक सफलताके साथ उभर सकता है। पाठकके मन-पर मूल संवेदनाके क्रमिक संघातको बनानेमें यह वातावरणकी अनुभूति काफ़ी सहायक होती है। प्राचीन कथा साहित्यमें भी इस वातावरणका अनुभव किया जा सकता है, पर नये शिल्पमें यह सफल कथा-कृतिका परिणाम नहीं वरन् कारण भी है। उसके सृजनकी चेष्टा अब सजग है। इलाचन्द्र जोशीके उपन्यास 'संन्यासी' तथा गिरिधरगोपालके 'चाँदनीके खँडहर' की तुलनासे यह स्थिति अधिक स्पष्ट हो जाती है।

उपर्युक्त वातावरणके सृजनमें भाषाका योग निश्चय ही सबसे अधिक है। नवलेखनमें यथासम्भव भाषाके मौखिक रूपको ग्रहण करनेकी चेष्टा की गई है। 'बूँद और समुद्र' (अमृतलाल नागर) में गालियोंका प्रयोग, 'डूबते मस्तूल' (नरेश मेहता) में प्रान्तीय भाषाओंका मिश्रण, लक्ष्मीकान्त वर्माकी कविताओंमें बिन्दुओं तथा विराम-चिह्नोंका प्रयोग और 'मादा कैक्टस' (लक्ष्मीनारायण लाल) में भाषाका आभिजात्य इसी प्रवृत्तिको प्रकट करते हैं। अन्ततः यह नये लेखकका यथार्थको अधिक मजबूतीसे पकड़नेके प्रयत्न-का फल है। मौखिक प्रकृतिको स्वीकार करनेके परिणामस्वरूप भाषाके

शब्द-समूह और रूप-तत्त्वके अतिरिक्त वाक्य-विन्यासमें महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुए हैं। नया लेखक संवाद लिखता नहीं, उसका पात्र बोलता है।

शब्द-प्रयोगके क्षेत्रमें कुछ लेखकोंने बड़े साहसका परिचय दिया है। लोक-जीवनसे शब्द ग्रहण करनेके अतिरिक्त सामान्य स्तरसे बहुत-से प्रयोग लिये गये हैं। रघुवीरसहायकी कविता 'हमारी हिन्दी' की कटु आलोचना बहुत-कुछ इसी कारणसे हुई है। पर उनकी अन्य कविताओं (दुनिया एक चुरमुराई-सी चीज़ हो गई है) में भी यह प्रवृत्ति उतने ही सफ़ल रूपमें देखी जा सकती है। भाषाका भदेसपन भी नये लेखकको स्वीकार्य है यदि वह उपयुक्त वातावरणके निर्माणमें योग देता है। धर्मवीर भारतीकी कहानी 'गुलकी बन्नो' की प्रकृति कुछ इसी प्रकारकी है।

शैलीकी दृष्टिसे नये लेखककी खोज बहुत-सी दिशाओंमें हुई है। अनेक शिल्प-विधियोंने उसे आकृष्ट किया है। पर अपने कई रूपोंमें प्रवाहवादी पद्धति उसे विशेष प्रिय जान पड़ती है। कहानी (शान्ता सिनहाकी 'सिफ़नी' तथा नर्मदेश्वर प्रसादकी 'निकटतम अवस्था'), उपन्यास ('द्वाभा'—प्रभाकर माचवे), कविता ('निर्मलके नाम'—मनोहरश्याम जोशी) तथा नाटक ('सुबहके घंटे'—नरेश मेहता) में इस शिल्पके कुछ सर्वथा नवीन आयाम देखनेको मिलते हैं। क्षणका विभाजन तथा उसकी अनुभूति नवलेखनकी विशिष्ट प्रकृति है, और प्रवाहवादी शिल्प उसकी अभिव्यक्तिका उपयुक्ततम माध्यम है।

भाव-चित्रों तथा प्रतीकोंका नया प्रयोग नये साहित्यमें विशेष रूपसे मिलता है। परम्परासे चले आनेवाले रूप-विधान आधुनिक युगकी संवेदनाके अनुकूल सिद्ध नहीं हुए। इसके अतिरिक्त नये लेखक अपनी प्रेरणाएँ बदलती हुई संस्कृतिसे ले रहे हैं। नयी पद्धतिमें आदिकालसे लेकर छायावादतक चले आनेवाले चाँद, बादल और उषाके प्रतीक पुराने तथा निरर्थक पड़ गये। इन प्रयोगोंका साहचर्य (association) ही मानो समाप्त हो गया। नयी संस्कृति प्रमुखतः मशीनी है। अपने अपरिष्कृत और सहज

रूपमें प्रकृति नयी संवेदनासे कुछ दूर हो चली है। नये लेखकने इस महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तनको लक्षित करके नये भाव-बोधकी माँगके अनुसार ही अपने भाव-चित्रों और प्रतीकोंका चयन किया है। मदन वात्स्यायन, सर्वेश्वर, विपिन आदिकी कविताओंमें अधिकांश प्रतीक-योजना इन नवीन उपकरणों-पर आधारित है। यान्त्रिक सभ्यतासे गृहीत प्रतीक मदन वात्स्यायनकी 'एक्सपर्ट' शीर्षक कवितामें शिल्पके प्रमुख अंग हैं। अज्ञेयकी 'हवाई यात्रा'में सम्पूर्ण प्रतीक इसी तरहका है। सर्वेश्वरकी युद्ध सम्बन्धी कविताओं ('बेबीका टैंक', 'पीस पैगोडा', 'कलाकार और सिपाही') अथवा 'घास काटनेकी मशीन' जैसी कवितामें औद्योगिक संस्कृतिके प्रतीक और भाव-चित्र हैं। लक्ष्मीकान्त वर्माके उपन्यास 'खाली कुर्सीकी आत्मा'में डॉ० सन्तोषीके चूहों सम्बन्धी प्रयोगोंका प्रतीकात्मक महत्त्व है। 'मादा कैक्टस' (लक्ष्मीनारायण लाल) में कैक्टसका प्रतीक नाटक और नाटककार दोनोंके सन्दर्भमें इस परिवर्त्तित दृष्टिकोणका सूचक है। सामान्यतः भाव-चित्रोंका प्रयोग कविताओंमें ही अधिक हुआ है। लक्ष्मीकान्त वर्माकी अधिकांश कविताएँ इस नयी पद्धतिका उदाहरण-सा प्रस्तुत करती जान पड़ती हैं। 'इतिहास और कीड़ा'में नेपोलियनका भाव-चित्र अथवा 'सन् तिरपन'में भाव-चित्रोंकी सम्पूर्ण माला शिल्पके आधुनिकतम रूपके अन्तर्गत रक्खे जायेंगे। प्रकृतिसे जो भी प्रतीक अथवा भाव-चित्र सीधे लिये गये हैं, उनकी पृष्ठभूमिमें व्यंगकी प्रधानता है। लक्ष्मीकान्त दूबेके चाँदको मूँजका बना हुआ देखते हैं।

समग्र शिल्प-पद्धतिकी दृष्टिसे नवलेखनकी अपनी कई प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं। इस प्रसंगमें सबसे पहली बात है संगततमका चुनाव। मनःस्थितियों, परिस्थितियों यहाँ तक कि शिल्पके बाह्य उपकरणोंमें भी नितान्त संगतिका ध्यान नया लेखक बराबर रखता है। इसका अर्थ यह नहीं कि पुराने साहित्यमें संगत तत्त्वोंका चुनाव नहीं होता था। वस्तुतः आधुनिक शिल्पके सन्दर्भमें संगतकी परिभाषा और क्षेत्र संकुचित हो गये

हैं। वाल्ज़कके लिए जो विधान संगत थे वे एल्बर्ट कामूके लिए नहीं हो सकते। इसी तरहसे प्रेमचन्द और रेणुके साहित्यिक संगति सम्बन्धी विचारोंमें भी अन्तर है। अधिक काल तक चलनेवाली नवलेखनकी सृजन-प्रक्रियामें संगतका यह चुनाव अधिक कड़ाईके साथ होता है। नया लेखक अपने एक-एक विराम-चिह्नकी आवश्यकता और संगतिके प्रति सतर्क है। इसीलिए बृहदाकार उपन्यास आज भी लगभग पहले जैसे शौक़से पढ़े जाते हैं, पर आधुनिक युगमें उनका सृजन विरल हो गया है।

संगत तत्त्वोंके चयनके फलस्वरूप नये साहित्यका शिल्प अधिक संघटित (Integrated) है। टुकड़े-टुकड़े करके उसका विश्लेषण करना कठिन है। भाषा, शब्द-प्रयोग, शैली तथा प्रतीक एक दूसरेके अधिक घनिष्ठ हो गये हैं। उदाहरणके लिए हम धर्मवीर भारतीके 'अंधा युग' को ले सकते हैं। शिल्पके परम्परासे मान्य उपकरणोंके रेशे एक दूसरेसे इतनी बारीक़ तहोंमें लिपटे हैं कि उनका स्वतन्त्र अस्तित्व ही मानो लुप्त हो गया हो। शिल्पका यह सम्पूर्णतः रूप अपने सारे तत्त्वोंके साथ एकबारगी प्रभावित करता है। फलतः पाठक द्वारा अन्वेषण और पुनरन्वेषण कृतिकी संवेदनाका अधिक होता है।

नया शिल्प अपनी मूल प्रेरणा सौन्दर्यशास्त्रके बदलते हुए प्रतिमानोंसे लेता है। कमलसे कैक्टसकी ओर ले जानेवाला सौन्दर्य-बोध नयी मानव संवेदनापर आधारित है जिसके अनुसार मसृण और खुरदरेपनमें एक आन्तरिक संगति है। नवलेखनका शिल्प बहुचिन्तित होते हुए भी कुछ खुरदुरा और अनगढ़ है, कंक्रीटके पलस्तरकी तरह। यह खुरदुरापना बहुत कुछ नये पाठककी आवश्यकता-जन्य है। परिपूर्ण शिल्पमें पाठकके सक्रिय सहभोगकी सम्भावना कम रहती है। भाषा, संगीत और शैलीकी बारीक़ पच्चीकारी संवेदनात्मक विस्तारको रोक सकती है। भाव-बोधकी इस त्रुटि-को दूर करनेके लिए नया कलाकार बहुत कुछ अमूर्त और अनगढ़ शिल्पका सहारा लेता है। अमूर्तनके सिद्धान्तके पीछे भाव-बोधको अधिकसे अधिक

व्यापक स्तरपर ले जानेकी बात है। साहित्य तथा अन्य ललित कलाओंमें अमूर्त प्रयोग इसी दृष्टिकोणको सामने रखकर किये गये हैं। चित्रोंके समान ही विपिन अग्रवालकी कविताएँ भी अमूर्तनकी प्रवृत्तिके सक्षम प्रयोग उपस्थित करती हैं।

शिल्पका अनगढ़पन सौन्दर्यको नये और अछूते आयाम प्रदान करता है। सौन्दर्यशास्त्रकी इस नवीन पद्धतिको नयी कवितामें विशेष रूपसे ग्रहण किया गया है। लक्ष्मीकान्त, विपिन, रघुवीरसहाय तथा भवानी मिश्र आदिमें इस अनगढ़पनके नये-नये स्वरूप विकसित हुए हैं। गद्यके आभिजात्य-को निखारनेवाले अज्ञेयकी कविताओंमें भी यह खुरदुरापन शिल्पको एक विशिष्ट तत्त्वके रूपमें देखा जा सकता है। उनकी प्रसिद्ध कविताओं ('यह दीप अकेला', 'मेरे आह्वानसे यदि प्रेत जागते हैं', 'नयी कविता : एक संभाव्य भूमिका')में शिल्पका और अधिक परिष्करण अकल्प्य है। पर यह एक विचित्र तथ्य है कि उन्होंने सर्वेश्वरकी कविताओंमें तन्त्र-कौशलकी कमी बताई है ('नयी कविता'—२)। सर्वेश्वरके साथ तन्त्र-कौशलके कुछ आधिक्यकी ही शिकायत हो सकती थी; और अधिक तन्त्र-कौशलसे तो उनके संवेदनात्मक विकासको क्षति पहुँच सकती है। इस प्रसङ्गमें लक्ष्मीकान्त वर्माका सन्तुलित शिल्प विशेष रूपसे उल्लेखनीय है।

नयी कविताके अतिरिक्त शिल्पका यह 'अपरिष्कृत' रूप अन्य साहित्य-रूपोंमें भी द्रष्टव्य है। कहानीमें इसका प्रयोग शायद सबसे कम है। प्रभाकर माचवेकी 'पहली अप्रैल' तथा अजितकुमारकी 'झुकी गरदनवाला ऊँट' जैसी कहानियोंमें यह प्रवृत्ति किसी हद तक मिलती है। कहानीके शिल्पमें नयेपनको समाहित करनेकी सम्भावना ही अपेक्षाकृत कम है। रेणु तथा लक्ष्मीकान्तके उपन्यास, 'द्वाभा' (प्रभाकर माचवे) तथा 'सोया हुआ जल' (सर्वेश्वर)जैसी कथा-कृतियोंमें शिल्पकी मसृणताको बचाया गया है। नये ढङ्गके यात्रा-संस्मरणों तथा डायरियोंमें भी शिल्पका यह नया रूप स्वीकार हो चला है। नाटकके क्षेत्रमें इस शिल्प-विधिकी सम्भावनाएँ कदाचित् सबसे अधिक

हैं, पर इस दृष्टिसे अभी तक कोई साहसपूर्ण प्रयोग नहीं हुआ है। टैनेसी विलियम्स, ऑस्बर्न अथवा कामू जैसे नये नाट्यकारोंने इस नये ढंगके विधानका बड़ा समर्थ उपयोग किया है।

प्रस्तुत अध्ययनको समाप्त करनेके पूर्व एक संभाव्य भ्रमका निराकरण आवश्यक है। यह सही है कि नवलेखनके शिल्पकी उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ बहुत व्यापक नहीं मानी जा सकतीं। पर महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे नये लेखकोंकी कृतियोंमें अतिरिक्त कौशलसे विकसित हुई हैं, और आधुनिक शिल्पके अभियानकी वास्तविक दिशाएँ हैं। ये कुछ निष्कर्ष इसीलिए ऊपर-से आरोपित न होकर प्रतिनिधितम रचनाओंसे प्रतिफलित हैं। साथ ही सभी क्षेत्रोंमें नवलेखनका आधारभूत वैविध्य भी विस्मृत नहीं किया जाना चाहिए।

नवलेखन : स्थापनाएँ तथा समस्याएँ

एक निरन्तर विकसन-शील प्रक्रिया होनेके बावजूद अब तक प्रस्तुत साहित्यके आधारपर नवलेखनकी कुछ मौलिक स्थापनाओं और कई दिशाओंसे उठनेवाली समस्याओंकी ओर संकेत किया जा सकता है। मूलतः एक बौद्धिक उन्मेष होनेके कारण नये साहित्यकी मान्यताएँ काफ़ी स्पष्ट रूपमें देखी जा सकती हैं। मानव-जीवन और उसके आधारभूत प्रतिमानोंमें होनेवाले परिवर्त्तनका बड़ा यथार्थ प्रतिफलन इस कृतित्वमें हुआ है। युद्ध, शान्ति, समाजवाद, धार्मिक विघटन, औद्योगिक संकट, व्यक्तित्वहीनता, व्यापक शंकाका वातावरण और आस्थाके पुनःस्थापनकी कहानी आधुनिक साहित्यकी प्रधान उपजीव्य है। इसीलिए नवलेखनका दृष्टिकोण एक व्यापक और सम्पृक्त दृष्टिकोण है, जिसके अन्तर्गत नयी और महत्त्वपूर्ण साहित्यिक मर्यादाओंका उदय हुआ है।

सबसे पहली बात बौद्धिक उन्मेषकी ही आती है। अब तककी साहित्यिक विचार-धाराओंमें कलात्मक सृजनके लिए बुद्धिवादकी प्रधानता अवांछनीय समझी जाती थी। विज्ञानके विकासके साथ कविताके ह्रास-की बात इसी दृष्टिसे कही गई थी। पर अणु-युग और नयी कविताके सह-अस्तित्वने इस आशंकाको निर्मूल सिद्ध कर दिया है। वस्तुतः नया लेखक किसी प्रकारके रहस्यवादको स्वीकार नहीं कर पाता। उसके लिए मानव-जीवन एक रहस्य नहीं, प्रक्रिया है। ईश्वर अथवा आस्था जैसी भावनाओंको उसने बलपूर्वक धार्मिक आचारोंसे अलग कर लिया है। नव-लेखन मूलतः मानववादी आस्थाका साहित्य है, अतः उसे किसी भी सम्प्र-

दाय—अपने भी सम्प्रदायपर विश्वास नहीं है। स्वातन्त्र्य उसके लिए प्रथम और अन्तिम मूल्य है, क्योंकि वह दायित्व-निर्वहणकी पहली शर्त है। अज्ञेयके कृति साहित्य और नये साहित्य-चिन्तनने विशेष रूपसे इस स्थिति-को एकदम् स्पष्ट कर दिया है। वरण करनेकी क्षमता और स्वतन्त्रता मानवका मौलिक अधिकार है, यह भावना नवलेखनकी प्रमुख प्रेरक शक्तियोंमें है।

सामाजिक दायित्वके निर्वहणकी बात महसूस करनेके लिए संघटित व्यक्तित्व चाहिए। नया लेखक इस सन्दर्भमें व्यक्तित्ववादी है, व्यक्तिवादी नहीं। मानव व्यक्तित्वको सम्पृक्त और संघटित बनाये रखना संस्कृतिका मुख्य उद्देश्य है। व्यक्तित्वका अन्वेषण और पुनरन्वेषण पूर्ण नहीं हो पाता, इसीलिए संस्कृति, सभ्यता और साहित्य गत्यात्मक सत्य हैं। सभी प्रकारके विचार-नियन्त्रण और केन्द्रीकृत सत्ताको नयी चिन्तन-पद्धतिमें प्रतिक्रिया-वादी माना गया है। इसका यही कारण है। विवेकके प्रयोगकी स्वाधीनता मानव-अस्तित्वकी अनिवार्यता है। स्वातन्त्र्य और दायित्व, आस्था और विवेकका तात्त्विक तथा संगत विवेचन भारतीके 'अन्धा युग'में हुआ है। इस काव्य-नाटकके समापनमें विशेष रूपसे नये मानवीय सन्दर्भों और मूल्योंका स्पष्टीकरण बड़े कलात्मक ढंगसे किया गया है। अज्ञेय और सर्वेश्वरने इस प्रसंगमें वेदनाके अतिरिक्त आयामको स्वीकार किया है। उनकी कविताओंमें इस अनुभूतिकी सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है।

बौद्धिक जागरूकताके कारण नवलेखनमें एक तटस्थताकी भावना विकसित हुई है। नया लेखक किसी भावावेशको नहीं मानता। कोई भी परिस्थिति उसके लिए ऐसी नहीं जो उसे संवेदनाके ज्वारमें बहा दे। अतः वह प्रकृति या मानवीय मनोभावोंमें अपनेको निमग्न नहीं कर देता। वह उन परिस्थितियोंमें सक्रिय रूपसे भाग लेता है और उस सहभोगको अपने पाठक तक व्यापक कर देना चाहता है। 'सिर चालन' उसकी रचनात्मक प्रक्रियामें तो होता ही नहीं उसके पाठककी आस्वादात्मक प्रक्रियामें

भी नहीं होता। पर उसकी यह तटस्थता निष्क्रिय अथवा शिथिल न होकर जागरूक है।

इन नवीन परिस्थितियोंमें आधुनिक कलाकार अपने पाठक, श्रोता या दर्शककी उपस्थितिके प्रति पहलेकी अपेक्षा बहुत अधिक सजग है। उनसे वह यथासम्भव सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिए वह अनौपचारिकता और आत्मीयताके माध्यमसे काम लेता है। नवलेखनके सभी काव्य-रूपोंमें ये प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। 'निकष'–१ के सम्पादकीयमें कृतिकार और पाठकके सीधे सम्बन्धकी बात बड़े प्रभावपूर्ण ढंगसे कही गई है। पाठकके प्रति लेखकका सीधा सम्बोधन नवलेखनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। साधारणीकरणसे आगे यह पाठकको अनुभूतिका साझीदार बनानेकी प्रक्रिया है। और यों नये पाठककी जिम्मेदारी और समझदारी भी पहलेकी अपेक्षा बढ़ गई है। वह मात्र निष्क्रिय रसभोगी नहीं वरन् एक व्यापक अनुभावनमें सक्रिय भागीदार है।

नये लेखककी रागात्मक तटस्थताके पीछे उसकी ऐतिहासिक विकासवादी दृष्टि भी है। नवलेखनके साहित्य-चिन्तनमें स्थान-स्थानपर इतिहासकी अनिवार्य शक्तिको स्वीकार किया गया है। पर इस ऐतिहासिक संचरणको असाधारण व्यक्तित्व मोड़ भी सकता है, जैसा कि 'अन्धा युग'के कृष्णके चरित्रसे व्यक्त होता है। कृष्णकी अनासक्ति इतिहासमें, या महाभारतकी भाषामें, नक्षत्रोंकी गतिमें, विपर्यय उत्पन्न कर देती है। व्यक्ति और इतिहासकी इस पारस्परिक संगतिमें अनेक द्वन्द्वोंका समाहार हो जाता है। नवलेखनमें द्वन्द्व वहीं तक सत्य है जहाँ कि वह किसी समाहारको जन्म देता है। अपने-आपमें द्वन्द्वको साध्य नहीं माना जा सकता। नये साहित्यमें इसीलिए संघर्ष, सुखान्त या दुखान्तका प्रश्न नहीं उठता। 'चाँदनीके खँडहर' (गिरिधर गोपाल), 'काले फूलका पौदा' (लक्ष्मीनारायण लाल) या 'सुबहके घण्टे' (नरेश मेहता) जैसी कृतियोंमें इस समाहारके संकेत

मिलते हैं। फलागम, कैंटोस्ट्रोफ़ी तथा सुखान्त-दुखान्तसे कहीं आगेकी स्थिति कथानककी इस परिपूर्णता या फ़ुलफ़िलमेंटमें देखी जा सकती है। वसन्त, देवन या एमन जीवनकी अनुभूति सुख-दुखके माध्यमसे नहीं करते। व्यापक इतिहासके सन्दर्भमें उनकी अपनी संगति ही उनके आचरणकी नियीमक गति है। विकसनशील संस्कृतिके तत्त्वोंसे अनिवार्य किन्तु फिर भी यत्नज 'एडजस्टमेंट' आधुनिकताका द्योतक है। इसी अर्थमें नवलेखन समसामयिक होनेके साथ-साथ आधुनिक है।

आधुनिकताको एक अनिवार्य मूल्य स्वीकार कर लेनेपर नये लेखकने कई और स्थापनाएँ विकसित की हैं। विचारोंके क्षेत्रमें राजनीतिका प्रवेश, सामाजिक चित्रणमें नव्य यथार्थवादी दृष्टि और शिल्पकी दृष्टिसे संघटन नवलेखनकी मौलिक मान्यताओंमेंसे हैं। सम्पृक्त और सम्पूर्ण दृष्टि लेकर चलनेके कारण नया लेखक आधुनिक संस्कृतिके महत्त्वपूर्ण उपकरण राजनीतिसे अपनेको अलग नहीं रखना चाहता। सैद्धान्तिक सन्दर्भोंमें उसका राजनैतिक दृष्टिकोण काफ़ी सुस्पष्ट और उभरा हुआ है। वह समन्वयके नामपर मत-हीनताको ग्रहण नहीं करना चाहता। सारे संसारको दो शिविरोंमें बाँटकर कोई भी शक्ति मध्यस्थका रूप धारण कर सकती है। पर नया लेखक इसे विचारात्मक कायरता मानता है। वह दो अतियों और शिविरोंके बीचका मध्यम मार्ग नहीं ढूँढ़ता। सारे आदर्शात्मक संघर्षमें अपनी स्थिति वह अपने चिन्तनके आधारपर निर्धारित करना चाहता है। इसीलिए वह तर्क-की आगमनात्मक प्रणालीको स्वीकार करता है और अपने रचनात्मक दृष्टिकोणको बलपूर्वक पर विनम्रताके साथ स्थापित करता है। विनम्रता इसलिए कि वह यह हठ नहीं कर सकता कि उसका विचार ही अन्तिम सत्य है। ऐतिहासिक विकासवादको स्वीकार करनेवाला व्यक्ति यह दुरा-ग्रह कर भी कैसे सकता है? पर वह अपनी तर्क-पद्धतिके सम्बन्धमें सन्दे-हास्पद नहीं है। प्रजातन्त्रात्मक समाजवादकी भावनासे पोषित होकर नव-लेखन स्वतः उसके विकास और परिष्करणमें योग दे रहा है।

कृति साहित्य इस प्रकारके राजनैतिक दृष्टिकोणकी अभिव्यक्तिका उपयुक्त माध्यम नहीं हो सकता। फिर भी कई कथा-कृतियों और नाटकों में इन प्रश्नोंको बड़े सक्षम ढंगसे उठाया गया है। 'सुबहके घण्टे' (नरेश मेहता), 'खाली कुर्सीकी आत्मा' (लक्ष्मीकांत वर्मा) तथा 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' (धर्मवीर भारती) में समसामयिक राजनीतिका काफ़ी सन्तुलित विवेचन हुआ है। सर्वेश्वर तथा लक्ष्मीकान्तकी कविताओंमें भी इस विचारधाराको व्यक्त किया गया है। पर रघुवंश, धर्मवीर भारती तथा विजयदेवनारायण साहीके साहित्य-चिन्तनमें नवीन विचार-पद्धतियाँ बड़ी प्रभावोत्पादकताके साथ स्पष्ट हुई हैं। भारतीका 'साहित्यकी नई मर्यादा' इस कोटिका अत्यन्त समर्थ निबन्ध है।

सुस्पष्ट राजनैतिक दृष्टिकोणके साथ नये लेखकने सामाजिक चित्रणके क्षेत्रमें नव्य यथार्थवादी पद्धतिको अपनाया है। ये दोनों स्थितियाँ उसके सही परिप्रेक्ष्यकी द्योतक हैं। नव्य यथार्थवादमें वस्तुतः यथार्थको एक वादके रूपमें नहीं ग्रहण किया जाता। यथार्थके नामपर मात्र जीवनकी कुरूपताओंका वर्णन अथवा सामाजिक यथार्थवादके अन्तर्गत संभाव्य उज्ज्वल भविष्यका चित्रण—इन दोनों ही पद्धतियोंको नवलेखनमें पक्षधर और खण्ड सत्यके रूपमें माना गया है। संपृक्त और समग्र चित्रको प्रस्तुत करना नव्य यथार्थवादका मुख्य उद्देश्य है। नयी कविताओं और कथा-साहित्यमें इस यथार्थका ही अंकन हुआ है। और इस प्रकार व्यंगकी शैलीको स्वीकार करनेपर भी मूल रचनात्मक दृष्टिका सदैव ध्यान रक्खा गया है। प्रमुखतः मध्यवर्गकी समस्याओंको लेकर चलनेवाले साहित्यमें इस नये यथार्थका उदय अत्यन्त आवश्यक था। अन्यथा सम्पूर्ण समाजका एक कुण्ठाग्रस्त और कुत्सित चित्र ही सामान्य पाठकके सामने आ पाता जो नवं विकसित प्रजातन्त्रकी प्रगतिके लिए काफ़ी घातक सिद्ध हो सकता था।

संपृक्त और समग्र दृष्टियोंको प्रस्तुत करनेके लिए परिवर्त्तित शिल्पविधानकी भी आवश्यकता हुई। अब तकके बिखरे हुए शिल्पसे यह समग्र-

तर चित्रण संभव न था। नये लेखकने भाषा, शैली, संगीत आदि विभिन्न उपकरणोंको संघटित शिल्पके रूपमें ग्रहण किया। आवश्यक विदेशी तत्त्वों-को भी स्वीकार किया गया, पर अपनी रचनाकी मौलिक प्रकृतिको भुला-कर नहीं। यह संघटित शिल्प साहित्य-शास्त्रकी प्रचलित सभी मान्यताओं-से अलग और उसके ऊपर है। इसीलिए नवलेखनके प्रसंगमें हिन्दीके अपने समीक्षा-शास्त्रकी जितनी आवश्यकता है, उतनी इसके पूर्व कभी न थी। शिल्पकी यह पद्धति नियमोंको ध्यानमें रखकर नहीं वरन् आव-श्यकताओंको ध्यानमें रखकर गठित हुई है। कुछ सर्वथा नये और स्वतन्त्र काव्य-रूपोंका जन्म इस नवीन शिल्प-प्रणाली द्वारा संभव हो सका है। सच तो यह है कि नवलेखनकी अधिकांश उत्कृष्ट कृतियोंका अपना अलग संघटित रूप है, जो सहज ही तुलनीय नहीं। यही कारण है कि कविता-या उपन्यास जैसे नामकरण अपर्याप्त और असन्तोषजनक जान पड़ते हैं। कविताके क्षेत्रमें 'गद्य-कविता' विभाजनका सुझाव (रामस्वरूप चतुर्वेदी : 'नयी कविता'—२) इसी दृष्टिकोणका परिचायक है।

पर नवलेखनकी उपलब्धियों तथा स्थापनाओंके साथ-साथ उसके संबंध-में उठनेवाली कई समस्याएँ भी विचारणीय हैं। इस प्रकारकी समस्याओं-में सबसे प्रमुख है सामान्य पाठककी। प्रायः यह सुननेको मिलता है कि नये साहित्यका रसबोध औसत पाठकके लिए सुलभ नहीं है। किसी हद तक यह कठिनाई वास्तविक भी कही जा सकती है; क्योंकि नवलेखनने पाठकके ऊपर कई जिम्मेदारियाँ डाल दी हैं। रसबोधके लिए विशेष प्रकारसे दीक्षित पाठककी बात मान लेनेपर भी संवेदनीयताकी समस्या सुलझ नहीं जाती! पर इस कठिनाईके पीछे कई अनिवार्य कारण हैं जिन्हें सहानुभूतिपूर्ण ढंगसे समझा जाना चाहिए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात नये लेखक-की अग्रणी संवेदनाकी है। सभी युगोंके लेखक अपने समयसे आगे रहते हैं, पर नये लेखकमें व्यवधानकी यह मात्रा और भी बढ़ गई है। समसामयिक संदर्भसे संपृक्त होनेपर भी उसका दृष्टिकोण सर्वथा नया

और साहसपूर्ण है। समग्र जीवनगत दृष्टिकोणमें परिवर्त्तनके कारण उसके विचार अपने पाठकसे काफ़ी आगे हैं। आधुनिक पूराका-पूरा समाज एक साथ नहीं हो जाता। केवल अग्रणी संवेदनावाले कुछ गिने-चुने व्यक्ति ही समसामयिकसे असन्तुष्ट होकर वर्तमानमें भविष्यको प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। आधुनिकता आगे देखनेवाली दृष्टि है। द्वितीय महायुद्धके बादसे भारतीय समाजमें जो परिवर्तन स्पष्ट हुए हैं वे अपनी प्रकृतिमें काफ़ी विद्रोही हैं। इतनी बड़ी और मौलिक सामाजिक क्रांति इस देशमें पहले शायद कभी नहीं हुई। नवलेखन इन परिवर्त्तनोंको और इनसे भी आगेकी स्थितियोंको प्रतिफलित करता है। दूसरी ओर अधिकांश सामान्य पाठक इन नये परिवर्त्तनोंको स्वीकार कर लेनेपर भी उन्हें आन्तरिक रूपसे मान नहीं सके हैं। और इस तरह समसामयिक तथा आधुनिकका अन्तर काफ़ी गहरा हो गया है। नवलेखनके माध्यमसे वह किसी हद तक दूर हो रहा है, पर यह स्थिति सारे प्रयत्नोंके बावजूद अभी समय साध्य है। तब तकके लिए लेखक और पाठकके बीच जो थोड़े-बहुत व्यवधान हैं, न उनका निषेध या तिरस्कार किया जा सकता है और न ही उनके आधारपर नये लेखकके ऊपर कठिन संवेदनीयताका आरोप लगाया जा सकता है।

नवलेखनके सम्बन्धमें दूसरी शिकायत उसकी क्षीण रसमयताको लेकर की जाती है। यह स्थिति भी वस्तुतः पहली जैसी ही है, और उसका विश्लेषण प्रायः उसी प्रकारका है। यह सत्य है कि नये साहित्यकी रसमयता पुरानेकी अपेक्षा क्षीणतर है, क्योंकि उसमें बौद्धिक उन्मेष कहीं अधिक है। साथ ही पाठककी आस्वादात्मक प्रक्रियाके लम्बे और जटिल हो जानेसे भी उसका रसबोध परम्परागत ढंगकी तुलनामें कम हो सकता है। पर यह रसबोधकी स्थिति अपने-आपमें आधुनिक मनोवृत्तिके अनुकूल नहीं है। साहित्यका दायित्व अब मूलतः रुचिर होना ही नहीं है। अपने नये दायित्वोंके निर्वहणमें भी नया साहित्य अपनी रुचिरता जितनी बनाये रख सके वह अच्छा है, पर अन्ततः नये भाव-बोधके सम्मुख प्राचीन ढंगकी

रसग्राहिता महत्त्व नहीं पा सकेगी। कलात्मक मनोरंजनके अधिकाधिक नये साधनों (सिनेमा, टेलीविज़न, रेडियो) के विकसित हो जानेसे साहित्यका वह मनोरंजन सम्बन्धी दायित्व अब पूर्ववत् नहीं रहा। उसके दायित्व पहले भी गम्भीर थे, अब शायद कुछ और अधिक हैं, और इस अतिरिक्त दायित्वके बदलेमें उसे अपनी मनोरंजन वृत्तिको छोड़ देना पड़ा है। कुछ पाठकोंके लिए यह स्थिति खेदजनक हो सकती है, पर यह परिवर्तित दायित्व-बोध साहित्यिक विकासकी अनिवार्य दिशा है।

पर इन कठिनाइयोंसे कहीं अधिक बड़ी एक और कठिनाई है। प्रायः सभी नये साहित्यिक आन्दोलनोंका मिथ्या अनुकरण होता रहा है। अभी तक छायावादी शैलीके गीतोंकी भरमारसे हिन्दी-जगत् मुक्त नहीं हुआ। कुछ शब्दों, शिल्प-विधानों आदिके प्रयोगसे किसी वास्तविक प्रवृत्तिका झूठा आभास करा देना बहुत कठिन नहीं है। साधारण पाठकके लिए असली और नक़लीका विवेक करना कठिन हो जाता है। नवलेखनका फ़ैशनकी तरह प्रयोग करना अपेक्षाकृत और भी आसान है, क्योंकि शिल्पके आन्तरिक अनुशासनके समक्ष वह बहुतसे बाह्य विधानोंको छोड़ चुका है। और यही कारण है कि नवलेखनकी नक़लें देखनेको बहुत-सी मिल जाती हैं।

इस प्रसंगमें एक और तथ्यका उल्लेख होना आवश्यक है। हिन्दी नवलेखनका इतिहास बताता है कि उसके कुछ सहयोगियोंने प्रारम्भमें बिना किसी विशिष्ट आन्तरिक अनुभूतिके ऊपरी खोलोंको ओढ़ना प्रारम्भ कर दिया। पर उनमेंसे कुछकी संवेदना कालान्तरमें नयी प्रवृत्तियोंसे संपृक्त होती चली गई और अब उनका वर्तमान कृतित्व नवलेखनकी उपलब्धियोंमें गिना जा सकता है। जेम्स-लैंगके सिद्धान्तके अनुसार मानो अनुभावोंको प्रकट करते-करते भावकी उत्पत्ति हो गई हो, कुछ ऐसी ही स्थिति ऐसे लेखकोंकी मानी जा सकती है। पर ऐसे उदाहरण विरल हैं, जब कि झूठे अनुकरणकी प्रवृत्ति बहुत व्यापक है। नवलेखनके प्रवर्त्तक और

पुरस्कर्त्ता इन अवांछनीय सहयोगियोंका जिम्मा कैसे ले सकते हैं ? पाठक-वर्गकी संवेदना धीरे-धीरे विकसित होनेपर ही इस मिथ्या आचरणकी सम्भावना कम हो सकती है।

नवलेखन अपने-आपमें एक सम्पूर्ण अस्तित्व है। उसके विभिन्न अंगों और काव्य-रूपोंमें जितनी संवेदनात्मक समानता और तारतम्य है उतना इसके पूर्व शायद ही कभी रहा हो। कविता, समीक्षा, यात्रा-संस्मरण आदि गद्यके अन्य रूपों और किसी हद तक नाटक और उपन्यासमें थोड़े-बहुत अन्तरके साथ एक-सी प्रवृत्तियाँ कार्य कर रही हैं। साथ ही अधिकांश नये लेखक प्रायः सभी प्रमुख काव्य-रूपोंमें प्रयोग कर रहे हैं, सभी काव्य-रूप बराबर आधुनिक हों, ऐसा तो नहीं, पर उनकी दिशा अन्ततः एक है। कुछ ऐसी ही स्थिति नवलेखनके सहयोगियोंकी भी है। उनका अस्तित्व एक सम्पूर्ण उपलब्धि है। नये साहित्यमें साहित्यिक महापुरुष नहीं हैं, वह सामूहिक अभियानका फल है। इस तरह एक समग्र चेतनाके रूपमें नवलेखन साहित्यमें आधुनिक दृष्टिकोणकी स्थापनाका सफल और साहसपूर्ण प्रयत्न है, तथा इसीमें उसकी संगति और सार्थकता है।

खण्ड २

[नोट्स]

नवलेखन : विदेशी प्रभाव ?

हिन्दीमें किसी भी नवीन स्फूर्तिसे युक्त साहित्यिक आन्दोलनको विदेशी उधार या प्रभाव मान लेनेकी प्रथा नयी नहीं है। इस प्रकारका सबसे अधिक प्रचार कदाचित् छायावाद और प्रयोगवादको लेकर हुआ है। नवलेखनके सम्बन्धमें भी सामान्य समीक्षकोंकी दृष्टि प्रायः इसी प्रकारकी रही है। विदेशी प्रभावसे आतंकित रहनेका वास्तविक कारण यह है कि प्रायः एक सहस्र वर्षोंकी निरन्तर दासताने हमारे मनमें कई प्रकारकी कुंठाएँ उत्पन्न कर दी हैं। हीनता-ग्रन्थि उनमेंसे एक है। आत्मविश्वासकी कमीके कारण हम यह नहीं मान पाते कि इस देशमें उत्पन्न व्यक्ति भी मौलिक प्रतिभा-सम्पन्न हो सकते हैं। विदेशियों द्वारा दिया गया सम्मान ही हमारे लिए कसौटीका काम करता है। इस कटु तथ्यका बड़ा तीखा अनुभव रवि ठाकुरको हुआ था, जब उन्हें नोबुल पुरस्कार मिलनेपर सम्मानित किया गया था।

और फिर प्रभाव है क्या ? विज्ञानके आधुनिक युगमें जब कि संचरण-के साधन दिन-प्रतिदिन विकसित हो रहे हैं कोई देश एक विशिष्ट प्रकारकी अन्तर्राष्ट्रीयतासे अपनेको अलग नहीं रख सकता। ऐसी स्थितिमें संस्कृतियों-के पारस्परिक आदान-प्रदानका अधिकाधिक विकसित होना स्वाभाविक है। कलाकारके व्यक्तित्वके सन्दर्भमें भी यह सत्य है कि उसकी अपनी मौलिकता बहुत-सी आन्तरिक परिस्थितियों और बाह्य प्रभावोंके संयोगसे निर्मित होती है। मनोविज्ञानमें किसी प्रकारकी कल्पनाको पूर्व अनुभव-जन्य ज्ञानपर आधारित बताया गया है। तब 'विशुद्ध' मौलिकताकी कल्पना

एक हवाई बात है। इस दृष्टिसे विदेशी प्रभावकी चर्चा करनेके अभ्यस्त समीक्षकोंको पहले प्रभावकी अपनी मर्यादा और सीमाको समझ लेना चाहिए।

अत्यन्त संवेदनशील प्राणी होनेके कारण साहित्यकारमें अन्योंकी अपेक्षा ईर्ष्या-द्वेषकी भावना भी शायद कुछ अधिक रहती है। किसी सह-धर्मीकी उत्कृष्ट कृतिको विदेशी उधार सिद्ध करनेकी पृष्ठभूमिमें इस तथ्यका ध्यान रखना आवश्यक है। और इस सबके अतिरिक्त किसी अन्य विशिष्ट देशके सन्दर्भमें प्रायः प्रत्येक राष्ट्रकी मनोभावना एक हद तक हीनता-ग्रन्थिसे युक्त रहती है। राजनैतिक पराधीनताके कारण भारतवर्ष और इंग्लैण्डकी जो स्थिति रही है, सांस्कृतिक पराधीनताके कारण प्रायः वैसी ही स्थिति इंग्लैण्ड और फ्रांसकी रही है। अतियथार्थवादका आन्दोलन जब इंग्लैण्डमें विकसित हुआ तो अधिकांश कला-समीक्षकोंने उसे फ्रांसका उधार मानकर उसका विरोध किया। बड़ी कठिनाईसे हर्बर्ट रीड यह सिद्ध कर पाये कि अतियथार्थवाद इंग्लैण्डकी अपनी परिस्थितियों और मनो-भावनाओंकी उपज है।

कला-आन्दोलनोंका चक्र आगे या पीछे सभी विकसित संस्कृतिके देशोंमें पहुँचता है। जो राष्ट्र जितना आधुनिक होता है, वहाँका इतिहास उतना ही गतिशील होता है। भारतवर्ष और उसमें भी हिन्दी भाषी प्रदेशका इतिहास सामान्य स्तरसे प्रायः पचास वर्ष पीछे रहा है। यह व्यवधान पहले इससे भी अधिक था, और अब शायद धीरे-धीरे कम हो रहा है। अतः नवलेखनका जो आन्दोलन इंग्लैण्डमें सन् '३० के आसपास प्रारम्भ हुआ था, वह यदि हिन्दीमें सन् '५० के बाद विकसित हो तो इसमें कोई आश्चर्य या खेदकी बात नहीं है। सूर्यका उदय सब देशोंमें एक साथ न होकर आगे-पीछे होता है। यह भौगोलिक स्थिति अपरिवर्त्तनीय है, जब कि सांस्कृतिक चक्रको तेज़ किया जा सकता है। हिन्दीमें गद्यका आन्दोलन, कथा-साहित्यका विकास, छायावाद और प्रगतिवाद ये सभी

परिस्थितियाँ अँग्रेज़ीकी तुलनामें वादमें आईं। पर इसके बावजूद हिन्दीमें इन साहित्यिक स्थितियोंका विकास अंग्रेज़ीके प्रभावके रूपमें नहीं देखा जा सकता। यह दूसरी बात है कि हमारी पूरी संस्कृति ही यूरोप और विशेषतः इंग्लैण्डके सम्पर्कमें परिवर्त्तित—या विकसित—हो रही हो।

इस सन्दर्भमें नवलेखनके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें विदेशी उधार कम है। सीमित ढंगके प्रभाव भी यत्र-तत्र ही परिलक्षित होते हैं। पर यह सही है कि नवलेखनके उन्नायकोंने विदेशी साहित्यके अध्ययनसे बहुत कुछ सीखा है। 'न्यू सिग्नेचर्स' और 'तारसप्तक'की तुलनासे लेकर रोज़ामण्ड लेहमनकी बी० बी० सी० पर प्रसारित रेडियो-पत्रिका तथा अज्ञेय द्वारा सम्पादित प्रथम आकाशवाणी पत्रिकाकी तुलना तक यह बात देखी जा सकती है। पर एकसे प्रेरणा ग्रहण करनेपर भी दूसरेकी मौलिकता सुरक्षित रह सकती है, और रही है।

किन्हीं-किन्हीं प्रसंगोंमें विदेशी प्रभावका आरोप निराधार प्रक्षेपण सिद्ध होता है। धुरीहीनता और क्रुद्ध युवकोंके आन्दोलनके बीचमें यही स्थिति रही है। इन दोनों बौद्धिक उन्मेषोंमें इतना अधिक साम्य है कि कुछ समयके वाद ही हिन्दीके विद्वान् समीक्षक यह सिद्ध कर सकते हैं कि हिन्दीके नये लेखकोंने अंग्रेज़ीके 'एंग्री यंग मैन' आन्दोलनकी नक़ल की है। पर वास्तविक परिस्थिति इससे एकदम भिन्न है। धर्मवीर भारतीका 'धुरीहीनता' शीर्षक निवन्ध १९५६ ई० की ग्रीष्ममें प्रकाशित हुआ था, जब कि 'एंग्री यंग मैन' के वर्गको स्थापित करनेवाला प्रथम महत्त्वपूर्ण संकलन 'डिक्लेरेशन' १९५७ ई० में प्रकाशित हुआ है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि विभिन्न देशोंकी साहित्यिक और राजनीतिक परिस्थितियों-में लगभग एकसे प्रभाव कार्य कर रहे हैं। उनमें पारस्परिक प्रभाव या उधारकी कल्पना असंगत होगी।

पराधीन देशपर शासक राष्ट्रका प्रभाव बहुत कुछ अस्वाभाविक ढंगसे पड़ता है। किन्तु फिर भी हिन्दीके छायावादी आन्दोलनको अंग्रेज़ी

रोमाण्टिसिज़्मके प्रभावके रूपमें नहीं देखा जा सकता। साहित्यके इतिहास-के सन्दर्भमें वह द्विवेदी युगीन इतिवृत्तात्मकताकी प्रतिक्रिया है। और अब जब देश स्वतन्त्र है तब तो अंग्रेज़ीका अनिवार्य प्रभाव और भी अकल्प्य है। हिन्दी नवलेखनने सभी आधुनिक साहित्योंकी संवेदनाओंसे कुछ-न-कुछ ग्रहण किया है, पर यह उसकी रचनात्मक प्रक्रियाका एक अभिन्न अंग है। समसामयिक साहित्यका तो अनुकरण ही किया जा सकता है, और इस अर्थमें हिन्दी नवलेखन अंग्रेज़ी न्यू राइटिंगका अनुकरण किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। अंग्रेज़ी 'न्यू राइटिंग' की पृष्ठभूमिमें मशीनी और युद्धप्रिय संस्कृति है, हिन्दी नवलेखन मुख्यतः आर्थिक और सामाजिक विषमता तथा व्यक्तित्वके विघटनका आख्यान है। दोनों लेखन पद्धतियोंमें बहुत-सी समानताएँ हैं, पर उनके सन्दर्भ अलग-अलग हैं।

बातको और अधिक स्पष्ट करनेके लिए नवलेखनकी कुछ प्रतिनिधि कृतियोंको लिया जा सकता है। 'अंधा युग', 'मैला आँचल', 'सुबहके घण्टे', 'मादा कैक्टस' और 'नयी कविताके प्रतिमान'—इनके प्रेरणा-स्रोत यदि अंग्रेज़ी साहित्यमें कहीं हैं भी तो निश्चित रूपसे इलियटके साहित्यके पहले। इलियटके बादका कृतित्व इन रचनाओंकी सृजनात्मक प्रक्रियामें समाविष्ट नहीं हो सकता था। इलियट, ऑडन और ईशरवुडके सारे काव्य-नाटकोंमें 'अंधा युग' का बीज तत्त्व नहीं है। पौराणिकताकी आधुनिक संगतिको प्रदर्शित करनेवाले नाटक उन्होंने नहीं लिखे। यही नहीं उनके काव्य-नाटकोंके शिल्प और भारतीके 'अंधा युग' के शिल्पमें भी अन्तर है। 'अंधा युग' का नाटकीय महाकाव्यत्व अंग्रेज़ीके नये काव्य-नाटकमें नहीं देखा जा सकता। नवलेखनकी इन कृतियोंकी निर्विवाद सफलता किसी भी अनुकरण या प्रभावका निषेध करती है। रघुवीरसहाय तथा विपिन अग्रवालकी कविताएँ किसीसे प्रभावित तो हैं ही नहीं, अनुकरणीय भी नहीं हैं। एक अनुकृति आगे भी अनुकृतिको प्रेरित करती है; पर मौलिकताकी परम्परा प्रायः नहीं बनती।

नवलेखनके उन्मेषको परिचालित करनेवाले कुछ उपकरण अवश्य ही यूरोपके समान सन्दर्भोंसे गृहीत कहे जा सकते हैं। कविताओं तथा अन्य कृति-साहित्यके संकलन; साहित्यकारोंके सहकारी प्रयास, पुस्तक–पत्रिकाओं-का प्रकाशन आदिके लिए नवलेखन जॉन लेमेन तथा उनके सहयोगियोंके प्रति ऋणी हैं। यद्यपि ये पद्धतियाँ भी अपने-आपमें नये साहित्यकी वास्तविक दिशा वन रही हैं, पर इन बाह्य उपकरणोंकी स्वीकृति नवलेखनकी आन्तरिक अनुभूतिको किसी स्तरपर प्रभावित नहीं करती। अपने-अपने सन्दर्भमें यूरोपकी न्यूराइटिंग और हिन्दी नवलेखन ऐतिहासिक अनिवार्यताएँ हैं।

नवलेखनका अन्तर्राष्ट्रीय स्तर

समस्त नये साहित्यका अध्ययन विदेशी प्रभावोंके रूपमें न होकर एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थितिके रूपमें होना चाहिए। बीसवीं शतीके पूर्वार्द्धमें यूरोप, अमेरिका तथा एशियाके कुछ देशोंकी समस्याएँ एक-सी रही हैं। औद्योगिकताकी प्रवृत्ति, महायुद्धकी विभीषिका, एक व्यापक शंकाका वातावरण और मानवीय व्यक्तित्वके खतरे, विज्ञानके नये चरण, धार्मिकताका विघटन और आस्थाहीनता, समाजवादी प्रजातन्त्रका उदय तथा एक व्यापक मानववादमें आस्थाका पुनःस्थापन—आधुनिक इण्डो-यूरोपीय संस्कृतिके विकासके पद-चिह्न हैं। प्रायः सभी देशोंमें किसी-न-किसी रूपमें ये परिस्थितियाँ बीसवीं शतीके प्रारम्भसे रही हैं। साहित्यिक गतिविधिका अध्ययन भी इसके समानान्तर रूपमें किया जा सकता है। भारोपीय राष्ट्रोंके साहित्यमें एक नवीन चेतनाका संचरण हो रहा है। अपनी बौद्धिकता और मानववादी पीठिकाके साथ नयी कविताका जन्म, कहानी और एकांकीका अपनी सीमाओंके कारण सारी लोकप्रियताके बावजूद पृष्ठभूमिमें चला जाना, और अधिक संक्षिप्त तथा गठित रूपमें उपन्यास तथा नाटककी स्थापना आधुनिक साहित्यकी प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। इसी प्रकारसे संवेदनात्मक सूक्ष्मता, रागात्मक तटस्थता और बौद्धिकता तथा लोकसंपृक्ति नये भावबोधकी अनिवार्य दिशाएँ हैं। ये सभी स्थितियाँ एक विशिष्ट सीमा तक विकसित भारोपीय संस्कृति द्वारा पोषित साहित्योंमें प्रस्तुत हैं। और यही नवलेखनका मौलिक अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भ है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर नये साहित्यकी कुछ और भी प्रवृत्तियाँ देखी

जा सकती हैं। आधुनिक लेखकने राजनीतिको सृजनात्मक प्रक्रियाके एक अनिवार्य अंगके रूपमें स्वीकार किया है। पर राजनैतिक स्तरपर पूर्ण रूपसे जागरूक होते हुए भी वह असहिष्णु नहीं है। इसीलिए विभिन्न मतवादोंसे सम्बद्ध लेखकोंकी साहित्यिक दिशाएँ एक-सी रही हैं। यही नहीं किन्हीं-किन्हीं राजनीतिक प्रश्नोंकी मानवतावादी भाव-भूमिमें सभी वर्गोंके लेखकोंने एक संयुक्त मोर्चा बनाया है। स्पेनके लिए लेखकों द्वारा प्रस्तुत 'इण्टरनेशनल ब्रिगेड' में कम्यूनिस्ट और ग़ैर कम्यूनिस्ट सभी लेखकोंने भाग लिया था। गोआके प्रश्नको लेकर प्रयागके कुछ साहित्यिकों की स्थिति भी इसी रूपमें देखी जा सकती है, यद्यपि सक्रिय स्तरपर कुछ भी करनेमें वे असमर्थ रहे।

विकसित राजनीतिक बोधके सन्दर्भमें किसी हद तक सभी नये लेखक वामपक्षी रहे हैं। पर एक फ़ैशनके रूपमें साम्यवादका ग्रहण किया जाना सभीने अवांछनीय समझा। इसके अतिरिक्त साम्यवादके मौलिक साम्प्रदायिक रूपको लेकर बहुतसे लेखकोंको गहरी निराशा भी हुई। 'द गौड दैट फ़ेल्ड' (कोस्लर, स्पेण्डर, जीद, रिचर्ड राइट, सिलोने तथा लुई फ़िशर द्वारा प्रस्तुत), 'ऐरो इन द ब्लू' और 'इनविज़िबल राइटिंग' (कोस्लर), 'वर्ल्ड विदिन वर्ल्ड' (स्पेण्डर) तथा 'द नेकेड गौड' (हॉवर्ड फ़ास्ट) जैसे आत्मकथात्मक प्रसंगोंमें यूरोप तथा अमेरिकाके नये परन्तु प्रतिष्ठित लेखकोंने कम्यूनिज़्मके प्रति अपना आकर्षण, स्वीकृति और फिर अन्ततः मतभेद एवं अविश्वासकी क्रमिक कथा प्रस्तुत की। भूतपूर्व-कम्यूनिस्ट लेखकोंका एक वर्ग ही बन गया, जिसमें अन्तिम महत्त्वपूर्ण नाम हावर्ड फ़ास्टका जुड़ा है। उसके मनकी सारी ईमानदारी, अन्तर्विरोध और जुगुप्सा बड़े मार्मिक ढंगसे उसकी कृति 'द नेकेड गौड' (१९५८ ई०) में व्यक्त हुई है।

नये हिन्दी लेखकोंकी स्थिति भी कुछ-कुछ ऐसी ही रही है। उनमेंसे अधिकांश अपनी प्रथम युवावस्थामें किसी-न-किसी रूपमें प्रगतिशील लेखक

संघसे सम्बद्ध रहे हैं। पर लेखकके मौलिक स्वातन्त्र्यके प्रश्नपर बहुतोंने अपना संबंध विच्छेद कर लिया। वामपक्षी राजनीतिसे संपृक्त रहनेपर भी उन्होंने साम्यवादका प्रकट विरोध किया। किन्तु नवलेखनकी मौलिक प्रकृतिमें साम्यवादी, ग़ैरसाम्यवादी तथा सहयात्री सभी समाविष्ट हो सके, क्योंकि राजनैतिक बोध रखते हुए भी उसकी आधारभूत मान्यताएँ मानववादी रही हैं। यह स्थिति भी यूरोपीय न्यू राइटिंगके उस स्तरका स्मरण दिलाती है, जहाँ विभिन्न राजनीतियाँ एक विशिष्ट साहित्यिक सृजनात्मक प्रक्रिया-में अपना-अपना सहयोग दे सकीं।

नवलेखनके अन्तर्राष्ट्रीय सन्दर्भमें पिछले दिनों एक स्थिति और जुड़ गई है। यह स्थिति है धुरीहीनताके आन्दोलन (हिन्दी) अथवा क्रुद्ध युवक (अंग्रेज़ी) की। 'ऐस्टेब्लिशमेंट'के प्रति गहरा विरोध इन दोनों बौद्धिक उन्मेषोंके मूलमें है। वस्तुतः बड़ोंकी धुरीहीनताने ही क्रुद्ध युवकों की मनःस्थितिको जन्म दिया है। प्रजातंत्रके असफल प्रयोग, पुराने और जर्जर मूल्योंके प्रति मोह और आदर्शोंके क्षेत्रमें एक निष्क्रिय तटस्थता नये लेखकके मनमें श्रद्धाको आहत करके आक्रोशको विकसित करती है। जॉन ऑस्बर्नके नाटक 'लुक बैक इन एंगर'ने इंग्लैंडमें जो उथल-पुथल कर दी, कुछ वैसी ही स्थिति हिन्दी प्रदेशमें भारतीके 'धुरीहीनता' शीर्षक निबन्धने उत्पन्न की है। और यह भी सही है कि दोनों ही जगह इन प्रश्नोंकी चर्चा भर हुई है, मौलिक समस्याकी विवेचनासे लोग जैसे जान-बूझ कर बचे हों। धुरीहीनता और क्रुद्ध युवकोंके प्रसंगमें एक स्वतंत्र नोट अलगसे दिया जा रहा है।

नवलेखन और राजनीति

नये साहित्यकी रचना-प्रक्रियाके संघटनमें राजनीतिका काफ़ी सजग सहयोग देखा जा सकता है। बौद्धिकताकी स्वीकृति और विचारोंके साहित्यके विकासने कृति-साहित्य और समीक्षा-साहित्यमें राजनीतिके प्रवेशको और सुगम बना दिया है। राजनीतिक दर्शनकी समस्याओंका विवेचन तो नये साहित्यमें नवीन मूल्यों और मर्यादाओंके प्रसंगमें हुआ ही है, व्यावहारिक राजनीतिके विभिन्न पक्षोंकी मीमांसा भी हुई है। पहले प्रकारकी स्थिति 'अन्धा युग' जैसे कृति-साहित्य और नये साहित्य-चिन्तनमें मिलती है, दूसरे वर्गकी राजनीति 'बूँद और समुद्र' (अमृतलाल नागर), 'सूरजका सातवाँ घोड़ा' (धर्मवीर भारती), 'वरुणके बेटे' (नागार्जुन), 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' (फणीश्वरनाथ 'रेणु'), 'खाली कुर्सीकी आत्मा' (लक्ष्मीकान्त वर्मा), 'सोया हुआ जल' (सर्वेश्वर) और 'सुबहके घण्टे' (नरेश मेहता) जैसे उपन्यास और नाटकोंमें द्रष्टव्य है। राजनीतिकी चर्चा हिन्दी उपन्यासोंमें पहले भी हुई है, पर एक स्थितिके चित्रणके रूपमें अथवा बाह्य प्रक्षेपणके ढंगसे। प्रेमचन्दकी 'गोदान' आदि महत्त्वपूर्ण कथा-कृतियोंसे तथा कुछ प्रगतिवादी रचनाओंसे तत्कालीन राजनीतिकी कुछ जानकारी मिल सकती है। पर सृजन-प्रक्रियाके एक आन्तरिक तत्त्वके रूपमें राजनीतिकी स्वीकृति सबसे पहले नवलेखनमें ही हुई है। नये कवियों तकने इस अनिवार्यताका निषेध नहीं किया है।

नये लेखककी राजनीतिमें पक्षधर चिन्तन अपेक्षाकृत कम है। वामपक्षीय होनेपर भी वह संस्कृतिके मौलिक उपादानों और मानवतावादी

विरासतसे अपनेको सम्पृक्त किये है। इसीलिए साम्यवादके अर्थशास्त्रको स्वीकार करनेपर भी वह उसके दर्शनको मान्यता नहीं दे पाती। अधिकांश नये साहित्यकी मौलिक राजनैतिक स्थिति यही है। नरेश मेहताके नाटक 'सुबहके घण्टे'का नायक एमन कहता है, "गांधीवादियोंके अपने साँचे हैं तो कम्यूनिस्टोंके भी साँचे हैं। इन्हें अपने ही अनुरूप लोग चाहिए—ये लोगोंके अनुरूप नहीं होना चाहते। मार्क्सने इतिहासके आधारपर नीति बनाई थी। ये नीतिके माध्यमसे इतिहास बनाते हैं.... अपनेसे बाहरके निरीक्षणोंको भी सच्चे कम्यूनिस्टको समेटना होगा और यह चीनवाले तभी कर सके, जब वे पहले चीनी बने। हम कम्यूनिस्ट भारतीय नहीं हैं। यहाँकी परम्परा और संस्कृतिको वैज्ञानिक दृष्टि हमने नहीं दी। इस अर्थमें गांधी भारतीय राजनीतिके गुरु हैं।" राजनीतिके सन्दर्भमें यह आत्ममन्थनकी प्रवृत्ति नवलेखनकी विशिष्ट दृष्टि है। हठवादिताके स्थानपर आत्म-परीक्षणकी भावना नये साहित्यके प्रायः सभी राजनैतिक चरित्रोंमें देखनेको मिलती है।

राजनैतिक दर्शनके विभिन्न पक्षोंका अंकन अज्ञेय और धर्मवीर भारतीकी कृतियोंमें विशेष रूपसे हुआ है। भुवन और माणिक मुल्ला या 'अन्धा युग'के कृष्ण राजनीतिक न होकर राजनीतिके तत्त्वदर्शी हैं। वे उन मर्यादाओं और मूल्योंके प्रति सचेत हैं जिनके आधारपर किसी काल-विशेषकी राजनीतिका गठन होता है। वे एक ऐसी व्यापक मानववादी व्यवस्थाका विधान चाहते हैं जिसमें संघटित व्यक्तित्वके लिए कम-से-कम खतरे हों और मुक्त भावसे दायित्व निर्वहणकी पूरी सुविधा हो। नये साहित्यके चिन्तन-प्रसंगोंमें भी इसी मूल मान्यताको विभिन्न सन्दर्भोंमें प्रस्तुत किया गया है। स्वभावतः ही इस प्रकारके विवेचनके लिए कृति-साहित्यकी अपेक्षा साहित्य-चिन्तनका माध्यम अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

जहाँ तक समसामयिक व्यावहारिक राजनीतिका प्रश्न है, कांग्रेसी, साम्यवादी तथा समाजवादी आन्दोलनोंका तात्त्विक अध्ययन नवलेखनमें

देखनेको मिलता है। कांग्रेसी आन्दोलनके कई पक्षोंका बड़ा सशक्त और मार्मिक अंकन रेणुके 'मैला आँचल'में हुआ है। 'परती परिकथा' (रेणु), 'बूँद और समुद्र' (नागर), 'वरुणके बेटे' (नागार्जुन) तथा 'सुबहके घण्टे' (नरेश मेहता) में भी इस मूलतः राष्ट्रीय आन्दोलनका आधुनिक चित्र प्रस्तुत किया गया है। पर 'मैला आँचल'का मानवीय सन्दर्भ सारी स्थितिको और करुण तथा विचारणीय बना देता है। आत्मत्यागके बाद भोगकी लालसाका व्यापक परिवेश सभी कृतियोंमें द्रष्टव्य है। साथ ही समूची स्थितिके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यको भी नहीं भुला दिया गया है। पर आलोचनाके बावजूद कटुता कहीं नहीं आई है। 'परती परिकथा' तो पुनर्जागरणका सन्देश भी देती है। नवीन निर्माणकी योजनाओंसे प्रेरित यह अकेली उल्लेखनीय कथा-कृति है।

वाम-पक्षीय राज्नीतिकी भी नये साहित्यमें प्रधानतः आलोचना हुई है। और यही वांछनीय स्थिति भी है। राजनीतिक दर्शनके क्षेत्रमें लेखक रचनात्मक संकेत बराबर देता है, पर व्यावहारिक राजनीतिमें उसके लिए आलोचनाका मार्ग अधिक उचित है। एमनके शब्दोंमें, "लाइफ इज़ नॉट पॉलिटिक्स बट एथिक्स। मेरे लिए जीवन पूजा है, प्रत्येक व्यक्ति देवता है।" अतः यह स्वाभाविक है कि नया लेखक मूल्यों और मर्यादाओं-के प्रश्नपर विचार करता हुआ पार्टी पौलिटिक्सको अधिक उन्नत तथा रचनात्मक बनानेका प्रयास करे। यहीं वह राजनीतिक दर्शनका नियामक होते हुए भी व्यावहारिक राजनीतिके सन्दर्भमें पक्षधरकी अपेक्षा आलोचक अधिक होता है।

साम्यवाद वामपक्षीय राजनीतिकी एक प्रधान दिशा रही है। पर मूलतः एक समग्र दृष्टि न होनेके कारण उसके कई पक्षोंसे सहमत होता हुआ भी नया लेखक उसे स्वीकार नहीं कर पाता। भारतीके 'सूरजका सातवाँ घोड़ा'में इस स्थितिका महत्त्वपूर्ण विवेचन हुआ है। लेखकके अनु-सार मार्क्स और भारतीय कम्यूनिज्ममें इतना तात्त्विक अन्तर हो गया है

कि सच्चे मार्क्सवादीके लिए कम्यूनिस्ट हो पाना सम्भव नहीं। सीमित कथानकमें इस दृष्टिको कलाकारने काफ़ी स्पष्टताके साथ प्रस्तुत किया है। लक्ष्मीकान्त वर्माके उपन्यास 'खाली कुर्सीकी आत्मा'में अधिक विस्तारके साथ साम्यवादी राजनीतिका प्रीक्षण हुआ है। स्थान-स्थानपर प्रतीकोंका सहीरा लेकर लेखकने अपने मन्तव्यको अधिक स्पष्ट और प्रभावपूर्ण बनाना चाहा है। उपन्यासके लम्बे संवादोंमें स्वतः पात्रोंके विवेचनके माध्यमसे भी राजनैतिक विवेचना हुई है। 'सोया हुआ जल' तथा 'सुबहके घण्टे'में साम्यवादी राजनीतिकी तीखी आलोचना कृतिके आंतरिक संगठनमें व्याप्त दिखाई देती है। कृति-साहित्यमें राजनैतिक चेतनाके ये श्रेष्ठतम उदाहरण हैं। अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स एण्ड द नॉवल'के प्रारम्भमें इरविंग होने स्टेन्ढलका एक उद्धरण दिया है, "साहित्यिक कृतित्वमें राजनीति संगीत-सभामें दाग़ी गई पिस्तौलकी आवाज़के समान है; काफ़ी ज़ोरदार और वेहूदी; किन्तु फिर भी उसकी ओर ध्यान न जाय, ऐसा नहीं हो सकता।" हो इस कथनको दिलचस्प मानते हुए भी इसका समर्थन नहीं करना चाहते। वे जानना चाहते हैं कि क्या पिस्तौलकी आवाज़को किसी प्रकारसे समूचे प्रदर्शनका एक अंग माना जा सकता है? उनकी मुख्य विवेचना इस जिज्ञासापर आधारित है। हिन्दीका नया साहित्य काफ़ी हद तक अब तक वाह्य प्रक्षेपण और व्याघात समझे जानेवाले इस राजनैतिक तत्त्वको अपनी सृजन-प्रक्रियामें समाहित कर चुका है। पिस्तौलकी आवाज़ अब संगीत-सभाके तारतम्यको भंग नहीं करती, वरन् वह सम्पूर्ण कार्य-क्रमका एक अंग बन गई है।

कथा-साहित्य और नाटककी अपेक्षा नयी कवितामें राजनैतिक विमर्शके लिए कम अवसर है। पर परम्परागत कविताकी तुलनामें उसकी राजनैतिक चेतना वहुत अधिक विकसित है। छायावादी कविता तक राजनीतिका अर्थ मुख्यतः राष्ट्रीयता रहा है। पर नये साहित्य और सन्दर्भने कविको राष्ट्रीयतासे ऊपर उठनेके लिए मानो विवश कर दिया। शीत-

युद्धों, शान्ति भंग करनेवाले प्रतिक्रियावादियों और दुराग्रही राजनैतिकोंका गहरा विरोध नयी कवितामें देखा जा सकता है। अज्ञेय, धर्मवीर भारती, सर्वेश्वर, भवानी मिश्र प्रभृति कवियोंमें यह राजनैतिक चेतना काफ़ी गहरे उतरी है। अज्ञेयकी कुछ कविताओं ('यह दीप अकेला') में तो राजनैतिक दर्शनकी विवेचना हुई है। भारतीने नयी तानाशाहीके प्रति सचेत किया है और बताया है कि 'इस प्रकारके नक़ली चेहरे लगाकर विध्वंसक पहले भी आये हैं। साथ ही राजनैतिक स्तरपर खरीदनेवाली शक्तियोंको कविने सावधान किया है कि 'हर भूखा आदमी बिकाऊ नहीं होता।' सर्वेश्वरकी शान्ति सम्बन्धी कविताओंका तो ऐतिहासिक महत्त्व है। विशिष्ट घटनाओंसे सम्बद्ध 'पीस पैगोडा' जैसी कविताओंका भी भावबोध अत्यन्त गहरा है। इस प्रसंगमें विपिन अग्रवालकी 'लड़ाईके बाद' शीर्षक रचनाका उल्लेख आवश्यक है।

कुल मिलाकर नये साहित्यकी राजनीतिक चेतना प्रजातन्त्रात्मक समाजवादके तत्त्वोंसे निर्मित हुई है। नवलेखनकी मूल प्रवृत्तियाँ प्रजातन्त्रकी पद्धतिमें जन्मी हैं, और उसकी परम्पराको आगे भी बढ़ाती हैं। साथ ही इस प्रजातन्त्रात्मक समाजवादके अनिवार्य सन्दर्भ मानववादकी स्थिति उसके लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। नये साहित्य और युवा राजनीतिमें तात्त्विक सम्बन्ध है, जिसका सबसे अच्छा प्रतिफलन हिन्दीके आधुनिक साहित्य-चिन्तनमें देखा जा सकता है।

धुरीहीनता और क्रुद्ध युवक

•

नवलेखनके अन्तर्राष्ट्रीय स्तरके प्रसंगमें यह चर्चा की गई है कि क्रुद्ध युवक आधुनिक साहित्यकी एक महत्त्वपूर्ण स्थिति है। अंग्रेज़ीके प्रसिद्ध समीक्षक प्राइस-जोन्सने अपनी एक ध्वनि-वार्ता 'ए रोड विद नो टर्निङ्ग'में नव-विकसित अंग्रेज़ी तथा अमेरिकन परिस्थितियोंकी तुलना करते हुए कहा है, "यह स्पष्ट है कि माइकेल व्यूटर तथा जैक कैरोएकके बीच कोई प्रत्यक्ष संबन्ध नहीं है और न जॉन आँस्वर्नके 'लुक वैक इन एंगर'के तीव्र आदेशों और सैलन होम्सके 'गो'में कोई समता है। पर सारे संसारके नवयुवक एक वड़ी संख्यामें लगभग एक ही मर्ज़के शिकार हैं।" अंग्रेज़ी साहित्यके क्रुद्ध युवकों और हिंदीमें धुरीहीनतासे त्रस्त नये लेखकोंकी तुलना अपेक्षाकृत विस्तारसे की जा सकती है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि हिन्दी आलोचनाके क्षेत्रमें कुछ ही समयके वाद हिन्दीके इस नये बौद्धिक उन्मेषको वड़ी आसानीके साथ अंग्रेज़ीके क्रुद्ध युवकोंके साथ नत्थी किया जा सकता है; और हिन्दीके इस आन्दोलनको अंग्रेजीका अनुकरण सिद्ध किया ज़ा सकता है। पर इस प्रसंगमें तिथियोंके उल्लेखसे शायद इस भ्रमकी संभावना दूर हो सके। क्रुद्ध युवकोंकी प्रथम महत्त्वपूर्ण आवाज़ सम्मिलित सहयोगसे लिखित संकलन 'डिक्लेरेशन'में उभरी थी। समसामयिक अंग्रेज़ी साहित्यकी इस बहुचर्चित कृतिका प्रकाशन १९५७ ई० में हुआ। पर हिन्दीमें 'राष्ट्रवाणी'में प्रकाशित 'जलते प्रश्न'की शृंखला १९५६ ई० की ग्रीष्मसे ही प्रारम्भ हो गई थी। इस लेखमालाका प्रथम महत्त्वपूर्ण निबन्ध धर्मवीर भारतीका 'धुरीहीनता'

था। कुछ अन्य नये लेखकोंने भी इस तत्त्वावधानमें अपने विचार प्रस्तुत किये।

अलग-अलग सन्दर्भोंमें होनेपर भी 'जलते प्रश्न' तथा 'डिक्लेरेशन'की आधारभूत समस्याएं बहुत-कुछ एक-सी हैं। उनका आक्रोश मुख्यतः परम्परासे स्थापित प्रतिमानों और व्यवस्थाके प्रति है। "अंग्रेजीमें इसे एक शब्दमें 'एस्टेब्लिशमेंट' कहा गया है। 'डिक्लेरेशन'के भूमिकाकार टॉम मैशल्रने बताया है कि 'एंग्री यंग मैन'के द्वारा उस एक प्रकारके लेखकोंको अभिहित किया जाता है जिनके मनमें अपने समसामयिक वातावरणकी उदासीनता, आत्म-तुष्टि और आदर्शात्मक दिवालियेपनके प्रति एक तीखे आक्रोशकी भावना है। हिन्दीके समसामयिक वातावरणमें भी लगभग इन्हीं परिस्थितियोंने 'जलते प्रश्न'के लेखकोंको प्रेरित किया है।" विशेष रूपसे स्थापितोंका आदर्शात्मक और बौद्धिक दिवालियापन उनके आक्रोशका प्रधान कारण है।

'डिक्लेरेशन'में संकलित निबन्धोंके शीर्षक उनके लेखकोंकी मन:स्थितिको बहुत-कुछ स्पष्ट करते हैं। 'द स्मॉल पर्सनल वॉइस', 'एलाँग द टाइट रोप', 'गेट आउट एण्ड पुश' तथा 'ए सेंस आफ़ क्राइसिस' जैसे शीर्षक पाठकके मनमें किसी गम्भीर खतरेकी ओर संकेत करते हैं। समूचे संकलनमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंको उठाया गया है। यदि सम्मिलित लेखकोंमेंसे सबसे अधिक चर्चित सहयोगी जॉन ऑस्बर्नके निबन्ध 'दे कॉल इट क्रिकेट' का विश्लेषण किया जाय तो कुछ निश्चित विचार-दृष्टियाँ उभरकर आती हैं। इंग्लैण्डकी शासन-व्यवस्थामें राजाकी पदवीका बना रहना, स्वेज़के मामलेको लेकर ईजिप्टपर आक्रमण तथा क्रिसमस आइलैंड्समें उद्‌जन बमके परीक्षण—इन तीन मौलिक समस्याओंको लेकर लेखकने वर्तमान सरकारकी आलोचना की है और उससे भी अधिक समसामयिक जनमतकी, जिसका इंग्लैंड जैसे उन्नत राष्ट्रमें उत्तरदायित्व कहीं अधिक है। इन सबके मूलमें ऑस्बर्नने विचारात्मक कायरताको पाया है। और इस संदर्भमें

लेखककी ज़िम्मेदारी और अधिक बढ़ गई है। विल हॉपकिन्सके निबन्धका प्रथम वाक्य है, "पिछले दशकका साहित्य किसी निश्चित दिशा, उद्देश्य तथा शक्तिके अभावके कारण स्मरणीय है" (तुलनीय 'धुरी-हीनता'की भाव-भूमि) और उसका वक्तव्य समाप्त होता है इस विचार-से, "इन्हीं कारणोंसे मेरा विश्वास है कि साहित्यको भावी धर्म, दर्शन तथा नेतृत्वका आधार बनना है। इस विश्वासमें मैं लेखकके असाधारण दायित्वका अनुभव करता हूँ, यदि हमारी संस्कृतिको जीवित रहना है तो।" नये लेखकका यह दम्भ नहीं वरन् वास्तविकताका अनुभावन है। एक ओर यह बढ़ते हुए दायित्वकी भावना है और दूसरी ओर विचारा-त्मक कायरता तथा दिवालियापन है। क्रुद्ध युवक और धुरीहीनताकी यह पृष्ठभूमि है। इस दृष्टिसे नये लेखकका क्रोध सकारण ही नहीं आवश्यक भी है, फिर वह चाहे इंग्लैण्डमें हो, या भारतमें अथवा अमेरिकामें। नया लेखक साहित्यको बौद्धिक प्रक्रिया मानता है और पुराना मनोरंजनका एक साधन।

'जलते प्रश्न' के अन्तर्गत उठाई गई समस्याएँ प्रमुखतः दो हैं। एक तो राज्य और लेखकका संबंध तथा दूसरे विचारोंके क्षेत्रमें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई एक निष्क्रिय मध्यस्थताकी भावना। 'कमिटमेंट', 'कंसर्न' तथा 'एंगेजमेंट' के आधुनिक युगमें विचारात्मक कायरतासे अधिक अकालिक और कोई स्थिति नहीं है। किन्तु हिन्दीके अधिकांश लेखकोंमें विचारकी कोई दिशा नहीं है। नवलेखनके सहयोगियोंने इस स्थितिके खिलाफ़ विद्रोह किया। इस दृष्टिसे विचारोंके साहित्यके क्षेत्रमें 'जलते प्रश्न' लेखमालाका अप्रतिम योग है। उपर्युक्त दोनों समस्याओंका विवेचन इस तत्त्वावधानमें धर्मवीर भारतीने अपने बहुचर्चित निबन्ध 'धुरीहीनता' में किया।

साम्राज्यवादी और सामन्तवादी पद्धतियोंके बाद भारतके नवविकसित प्रजातन्त्रमें लेखक और राज्यका पारस्परिक संबन्ध एक विचारणीय स्थिति

है। पर देशमें शासनको अधिकाधिक महत्त्व मिलते देखकर मानो लेखकने भी आत्म-समर्पण कर दिया हो। सरकारी तथा अर्द्धसरकारी संस्थाओं, पुरस्कारों, पदों, पदकों और पदवियोंके माध्यमसे राज्यने लेखकपर प्रत्यक्ष और उससे भी अधिक अप्रत्यक्ष प्रभाव डाला। फलतः अधिकांश लेखक अपनी विद्रोह-धर्मा प्रकृतिको भुलाकर स्थापनके साथ हो गये। जनतन्त्रके विकासकी पद्धतिमें इस अवरोधका अनुभव नये लेखकोंको हुआ और उन्होंने विभिन्न माध्यमोंसे इस अस्वस्थ मनोवृत्तिकी कटु आलोचना की। पत्र-पत्रिकाओंमें चर्चाएँ हुईं, सम्पादकीय लिखे गये, परिसंवाद आयोजित हुए और अन्ततः 'परिमल' द्वारा आयोजित 'लेखक और राज्य' परिगोष्ठीमें भारतीय लेखकोंका एक सम्मिलित स्वर उभरा, जिसने कमसे कम इस मूल समस्याकी ओर व्यापक स्तरपर लोगोंका ध्यान आकृष्ट किया।

परिमल परिगोष्ठीके बाद भी यह विवाद आगे चला। राज्य-संरक्षणका रूप वितृत होनेसे तो रुक गया, पर उसकी नीतिमें कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ समय पूर्व लखनऊमें स्थापित 'भारती' संस्था और उसके परिपत्रके सम्बन्धमें एक नये लेखककी टिप्पणी विचारणीय है, "परिपत्रमें आगे जो कहा गया है, वह एक गम्भीर समस्या प्रस्तुत करता है। यहाँपर पूर्ण प्रकरण उद्धृत करना उचित होगा। 'इस ओर काम करना, साहित्य और संस्कृतिको प्रोत्साहित करना, भाषाका निर्माण करना आजके दिन राज्यका उत्तरदायित्व हो गया है, क्योंकि निर्माण-कालमें मत-विभिन्नताकी प्रवृत्ति द्वारा शक्तिके क्षयको रोकना अत्यावश्यक है। साथ ही देशमें समाजवादी व्यवस्था लागू होनेके कारण वह आर्थिक सहायता, जो साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओंको पूँजीपतियों या सामन्तोंसे प्राप्त होती थी, मिलनी बन्द हो गई है।' बहुत ग़ौरसे पढ़नेके बावजूद भी सारे प्रकरणकी तर्क-संगतिको समझ सकना किसीके लिए भी असम्भव हो जाना ही सम्भव है। मत विभिन्नताकी प्रवृत्ति द्वारा शक्तिके क्षयको रोकनेकी अत्यावश्यकताको कारण-स्वरूप

बतलाकर राज्यको साहित्य एवं संस्कृतिके प्रोत्साहन तथा भाषाके निर्माण-का दायित्व-वाहक घोषित करनेमें क्या तर्क है—यह समझना बड़ा कठिन ज्ञात होता है। इस सारी बातको केवल इसी प्रकार समझा जा सकता है कि मत विभिन्नताकी प्रवृत्ति द्वारा शक्तिके क्षयको रोकना भी राज्यका एक दायित्व है—शक्तिकी क्षयका कारण स्पष्टतः मत-विभिन्नताकी प्रवृत्ति है, तो मत-विभिन्नताकी प्रवृत्तिको रोकना भी राज्यका दायित्व हो जाता है। परिपत्र-लेखक, ऐसा लगता है, भारतीय संविधानमें दिये गये विचार-स्वातन्त्र्यके विरुद्ध हैं और सम्भवतः परिवर्त्तन चाहते हैं·······साथ ही इस प्रकरणके दूसरे वाक्यसे यह ध्वनित होता है कि 'समाजवादी व्यवस्था लागू होने' से तो कहीं अच्छा था कि 'पूँजीपतियों और सामन्तों'का युग ही बना रहता—कमसे कम साहित्यिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओंको आर्थिक सहा-यता तो मिलती रहती। समाजवादी व्यवस्थाके संबन्धमें 'लागू' शब्दके प्रयोगके औचित्य-अनौचित्यके विवेचनकी यहाँ आवश्यकता नहीं है।" (कृष्णनारायण कक्कड़—'युगचेतना' नवम्बर '५८) इस लम्बे उद्धरणसे हिन्दी लेखककी समसामयिक स्थितिका वास्तविक चित्र उपस्थित होता है। स्मरण रहे कि उक्त परिपत्रपर ६३ सदस्योंके हस्ताक्षर हैं, जिनमेंसे कई हिन्दीके लब्धप्रतिष्ठ और चोटीके साहित्यकार हैं।

राजकीय स्तरपर साहित्यिक और सांस्कृतिक समारोहोंके मनाये जाने-पर भी विचार हुआ है। संस्कृतिका राज्य-सत्तामें केन्द्रीभूत हो जाना उसके विघटनकी निशानी है और नया लेखक इस स्थितिके प्रति सतर्क है। लक्ष्मीकान्त वर्माकी 'कल्पना' अक्टूबर '५८ में प्रकाशित टिप्पणी इस ओर ध्यान आकृष्ट करती है। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दीके अधिकांश बुद्धिजीवियोंमें इन स्थितियोंके प्रति उदासीनता और तटस्थताकी भावना दिखाई देती है। यह लक्षण अपने-आपमें बहुत स्वस्थ नहीं है।

'धुरोहीनता'का दूसरा प्रसंग हिन्दी लेखकोंकी विचारात्मक कायरता है। बिना किसी विश्वासके 'कमिटमेण्ट' सम्भव नहीं है। और हिन्दी लेखक,

यदि उसके पास विश्वास था भी तो उसे छोड़ चुका है। व्यावहारिक प्रलोभनों और जनतन्त्रमें अनास्थाके कारण वह कोई स्पष्ट मत व्यक्त करनेमें डरता है। मानववादका ढोंग बनाकर वह सभीको प्रसन्न करना चाहता है। समन्वयके नामपर विचारोंका गला घोंट देना चाहता है। इस खेदजनक स्थितिको ही भारतीने 'धुरीहीनता' कहा है, जिसकी ओर अंग्रेजीके सन्दर्भमें विल हॉपकिन्सने संकेत किया है। 'वर्चू लाइज़ इन द मिडिल' इस सिद्धान्त-कथनको आँख मींचकर मान लेनेमें ही हिन्दी लेखक अपनी भलाई समझता है। इस सिद्धान्तमें उसका विश्वास भले न हो, पर ऐसा माननेमें उसे सुविधा अवश्य है। उसके सोचनेका श्रम बिलकुल बच जाता है, और साथ ही सोचनेके खतरे भी उसे नहीं उठाने पड़ते।

साहित्यमें ही नहीं राजनीतिमें भी वह इसी मतहीनतासे काम चलाना चाहता है। उसके लेखे जनसंघ और साम्यवादी पार्टी दोनों बराबर हैं, क्योंकि वह मानववादी है। राजनीतिक अवसरवादिताका यह विचारोंके क्षेत्रमें प्रवेश साहित्यके स्वस्थ विकासके लिए घातक है। नया लेखक इस स्थितिपर खेद ही नहीं प्रकट करता उसका तीखा विरोध भी करता है। पर अपने इस आक्रोशके लिए उसे कई वर्गोंका क्रोध झेलना पड़ता है। यह सम्मिलित प्रतिरोध उसे आगे बढ़नेकी प्रेरणा देता है। धुरीहीनतासे उत्पन्न उसका क्रोध निर्बल नहीं वरन् दृढ़ और रचनात्मक है, क्योंकि उसे जनतन्त्रात्मक शक्तियोंकी विजयपर भरोसा है; पर इसके लिए नये लेखकको अपनी ईमानदारी अक्षुण्ण रखनी होगी।

साहित्यमें आधुनिक संवेदना

नवलेखनको समसामयिक साहित्यमें आधुनिकताकी स्थापना कहा गया है। पर साहित्यमें आधुनिक संवेदनाकी प्रकृतिको समझ पाना अपने आपमें एक कठिन कार्य है। आधुनिकता एक मनोवृत्ति है जो स्थितियोंमें प्रतिफलित होती है। विकसनशील संस्कृतिके तत्त्वोंके अनुरूप अपने आपको परिष्कृत करते चलना ही आधुनिकताका प्रथम लक्षण है। इस दृष्टिसे वह एक गत्यात्मक सत्य है और भविष्यमें प्रक्षिप्त दृष्टि है। प्रत्येक युगमें आधुनिकताके सूचक उपकरण भिन्न-भिन्न रहे हैं। जो पहले आधुनिक था वह आज नहीं है और जो इस समय आधुनिक है, वह शायद आगे न रह सके। दृष्टिमें आधुनिकताका यह विकास भविष्यकी सम्भावनाओंको ध्यानमें रखकर होता है। इसीलिए समसामयिक और आधुनिकमें बराबर अन्तर बना रहता है। पूराका पूरा समाज आधुनिक नहीं हो पाता; कुछ अग्रणी संवेदनावाले भविष्यद्रष्टा आधुनिकताकी ओर उन्मुख रहते हैं। अतः आधुनिकता वर्तमानके सन्दर्भमें भविष्योन्मुख दृष्टि है।

इतिहास-चक्रके अन्तर्गत आधुनिकता बहुत-कुछ एक अनिवार्य स्थिति है। पर इस चक्रको अधिक गतिसे प्रवर्त्तित करना उसी प्रकार आवश्यक है, जैसे प्रोलेतेरियत शासनको एक अपरिहार्य स्थिति मानकर भी साम्यवादी दल उसे प्रयत्नपूर्वक शीघ्रतर स्थापित करना चाहता है। इस दृष्टिसे अनिवार्य होते हुए भी आधुनिकता एक यत्नज प्रक्रिया है। सभ्यता और संस्कृतिके विभिन्न उपकरणोंमें यह प्रवृत्ति बराबर देखी जा सकती है। हिन्दी साहित्यमें नवलेखन आधुनिक प्रवृत्तियोंका वाहक है।

साहित्यमें आधुनिक संवेदना कई उपकरणोंसे निर्मित हुई है। सबसे पहली बात क्षणके महत्त्वकी है। जीवनकी अनुभूति दे सकनेवाले प्रत्येक क्षणका महत्त्व है। अतः केवल घटनापूर्ण क्षणोंका चित्रण करनेवाली बात पुरानी पड़ गई। सामान्य और अकिंचन क्षणोंका उनकी सम्पूर्ण संगृतिमें अंकन आधुनिक भाव-बोधकी स्थिति है। इस परिवर्त्तनका सबसे अधिक प्रभाव नाटकपर पड़ा जिसके कारण उसकी सारी नाटकीयता ही समाप्त हो गई। प्रख्यात नाटककार टैनेसी विलियम्सके नाटक इस कथनके अच्छे उदाहरण हैं। उपन्यासके क्षेत्रमें कामूँकी कथाकृतियाँ भी इसी स्थितिकी परिचायक हैं। किसी एक विशिष्ट संवेदनाका सूक्ष्म चित्रण, जिसमें घटनाओंपर आग्रह न होकर घटनाओं द्वारा उत्पन्न भावात्मक संघातपर आग्रह है, आधुनिक साहित्यकी एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है। घटनाओंके प्रसंगमें संघर्षका नये साहित्यमें महत्त्व नहीं रहा। सामान्य और अकिंचन क्षणोंका अंकन इस परम्परागत संघर्षकी भावनासे विहीन रहेगा ही। इस स्थितिको कुछ समीक्षकोंने कथा-वस्तुका विघटन भी कहा है। पर यह विघटन न होकर विकास अधिक है। घटनात्मक संघर्षकी सहज भाव-बोधमें परिणति है।

आधुनिक संवेदनाका दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व बौद्धिकताका है। साहित्यकी ही नहीं समूचे युगकी प्रवृत्ति इसी ओर है। वैज्ञानिक और मशीनी संस्कृति इस विकासकी पृष्ठभूमिमें देखी जा सकती है। धार्मिकताका विघटन एक अन्य कारण माना जा सकता है। साहित्यकी नयी आस्था और मर्यादा बौद्धिकताकी आधार-शिलापर स्थित है। इसीलिए उसकी रुचिरतामें काफ़ी कमी हो गई है, जिसकी पूर्त्ति नव-विकसित कलात्मक मनोरंजनके साधनों जैसे, सिनेमा, टेलिविज़न तथा रेडियोने की है। साहित्यका बड़ा भाग विचारोंका साहित्य हो चला है। जीवनके व्यापक मूल्योंका विवेचन उसकी प्रधान दृष्टि है। यह इसीका फल है कि अपनी सृजनात्मक प्रक्रियामें उसने व्यावहारिक राजनीतिको भी समाविष्ट कर लिया है। कुल मिलाकर अब उसके दायित्व और गम्भीर हैं। 'डिक्लेरेशन' के एक

सहयोगी लेखकके मतानुसार "मेरा विश्वास है कि साहित्यको भावी धर्म, दर्शन तथा नेतृत्वका आधार बनना है। इस विश्वासमें मैं लेखकके असाधारण दायित्वका अनुभव करता हूँ, यदि हमारी संस्कृतिको जीवित रहना है तो।" यह दायित्व-वोध लेखकको अनिवार्यतः चिन्तक बननेकी ओर प्रवृत्त करता है। नये साहित्यके स्रष्टा अधिकांशतः चिन्तक-लेखक हैं। व्यापक मानव-मूल्योंके प्रति उनकी चिन्तना (कंसर्न) सहज है।

बौद्धिकताकी प्रवृत्तिने नये साहित्यमें एक रागात्मक तटस्थताको जन्म दिया है। भावात्मक आवेश नये लेखककी विशेषता नहीं मानी जा सकती। मानवीय परिस्थितियोंका द्रष्टा न होकर वह भोक्ता है। और यह सहभोगीकी स्थिति ही वह अपने पाठक तक व्यापक कर देना चाहता है। परन्तु प्रकृतिके सन्दर्भमें उसकी स्थिति इससे भिन्न है। न वह उसके लिए वालसुलभ आश्चर्यका कारण है और न किसी गहरे स्तरपर वह उससे तादात्म्यका अनुभव करता है। वस्तुतः मनुष्यने उसकी संवेदनाको इतना अधिक व्यस्त कर रक्खा है कि प्रकृतिके लिए उसके पास विशेष अवकाश नहीं। अज्ञेयके कविता-संकलनका शीर्षक 'हरी घासपर क्षण भर' तथा उनकी कविता 'दूर्वांचल' की अन्तिम पंक्ति 'अरे यायावर रहेगा याद !' नये लेखककी इसी प्रवृत्तिके द्योतक हैं। आलम्बन-उद्दीपनसे अलग अब वह प्रकृतिको मनुष्यकी अनिवार्य पृष्ठभूमिके रूपमें, चाहते हुए भी, स्वीकार नहीं कर पाता। तकनीकी संस्कृतिने साहित्यकी नयी संवेदनाको दूर तक प्रभावित किया है।

आधुनिक संवेदनामें लेखकका नया सौन्दर्य-बोध विशेष महत्त्व रखता है। सौन्दर्य अथवा कुरूपताकी भावना अब मात्र वाह्याकारोंपर आधारित नहीं है। कैक्टस मानो नयी सौन्दर्य-चेतनाका प्रतीक है। ऊपरसे काँटे परन्तु अन्दर मरुथलोंका सामना करनेवाला रस। परम्परागत सौन्दर्य-विम्वोंसे नये लेखकका मन भर गया है (अज्ञेयके शब्दोंमें इन प्रतीकोंके देवता कूच कर गये हैं)। दूजका चाँद उसे मूँजसे बना दिखाई देता है। उसके लिए

सौन्दर्य एक समग्र दृष्टि है। समूचे व्यक्तित्वकी परख वह इसी सौन्दर्यकी कसौटीपर करना चाहता है। नये साहित्यके नायक-नायिकाओंको शारीरिक सौन्दर्यकी अपेक्षा नहीं है। नायिकाका बाह्याकार अतीव सौन्दर्यशाली होना चाहिए, इस मान्यताको अस्वीकार कर दिया गया है। इसीलिए छायावादी नख-शिख वर्णन भी आज स्वीकार्य नहीं। सौन्दर्यकी कसौटी संघटित मानव व्यक्तित्व है, जो जड़ अनुभूति नहीं वरन् एक गत्यात्मक सत्य है।

सौन्दर्य-बोधके साथ-साथ नये नैतिक प्रतिमानोंकी ओर भी नवलेखन-की चिन्ता रही है। प्रणयके जिस सहज रूपको परम्परासे कुण्ठाग्रस्त और अनैतिक माना गया है, नये लेखकने उसका अत्यन्त स्वाभाविक अंकन किया है। शेखर और शशिके सम्बन्धोंको लेकर हिन्दीका पाठक वर्ग काफ़ी दिनों तक असन्तुष्ट और आतंकित रहा। पर 'पथकी खोज', 'बाहर-भीतर' और 'तन्तुजाल' जैसी कथा-कृतियोंने यह स्पष्ट कर दिया कि प्रणयको सामाजिक खानोंमें बन्द कर देना उसके सहज रूपको कुण्ठा-ग्रस्त बना देना है। इसी प्रकार श्लील और अश्लीलके परम्परागत विभाजनको भी एक नयी, स्वस्थ और संतुलित दृष्टिसे देखा गया। दृष्टिकी सम्पूर्णता ही किसी भी वर्णनके श्लील या अश्लील होनेकी कसौटी मानी गई। और इस प्रकार 'नदीके द्वीप' के सामान्यतः अश्लील समझे जानेवाले अंश कलात्मक उप-लब्धिके श्रेष्ठ नमूने ठहरते हैं।

नवलेखनके सभी अंगोंमें आधुनिक संवेदनाके ये तत्त्व प्रतिफलित हुए हैं, पर उसके स्तर भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। कविता और समीक्षा इस दृष्टिसे सबसे विकसित पक्ष हैं। किन्तु सब मिलाकर समूचे साहित्यके विकासकी दिशा अन्ततः एक है। सम्पूर्ण साहित्यका इतना संघटित व्य-क्तित्व इसके पूर्व नहीं रहा, जिससे लगता है कि नवलेखनकी मूल संवेदना अपने आपमें एक है, और जो अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें निश्चित रूपसे आधुनिक है।

नवलेखनमें लोक-तत्त्व

मशीनी संस्कृतिकी ओर उन्मुख साहित्य तथा कलाओंमें लोक-तत्त्वके समाविष्ट होनेकी चर्चा कुछ इस प्रकारसे की जाती है, जैसे यह स्थिति अपने आपमें असाधारण हो। पर वस्तु स्थिति यही है, और जो किसी हद तक स्वाभाविक और अपरिहार्य भी है; वांछनीय अथवा अवांछनीय होनेकी बात यहाँ नहीं उठती।

लोक-संस्कृति और आभिजात्यकी भावनाके बीचका संघर्ष आधुनिक युगके प्रमुख अन्तर्द्वन्द्वोंमेंसे है। सच तो यह है कि लोक-संस्कृतिका आरोपण अब बहुत कुछ एक फ़ैशनके रूपमें हो चला है। साहित्य भी इस स्थितिका अपवाद नहीं है। पर इसके बावजूद नवलेखनमें कुछ लोक-तत्त्वोंका समावेश इतने स्वाभाविक ढंगसे हुआ है कि उनका अस्तित्व अलगसे प्रक्षिप्त नहीं दिखाई देता।

अभी तक साहित्यमें लोक-तत्त्वका सजग प्रयोग स्थानीय रंगके रूपमें होता था। पर अब इससे भी आगे बढ़कर समूचे लोक-जीवनको उसके समस्त संगत सन्दर्भोंमें चित्रित करनेका प्रयास हुआ है। कथा-कृतियोंके क्षेत्रमें इस प्रकारकी रचनाको आंचलिक उपन्यास कहा गया है। इस व्यापक नामकरणके अन्तर्गत 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' ('रेणु), 'वरुणके बेटे' (नागार्जुन), 'सागर, लहरें और मनुष्य' (उदयशंकर भट्ट) तथा अंशतः 'बूँद और समुद्र' (अमृतलाल नागर) की गणना की जा सकती है। इस वर्गकी कृतियोंमेंसे 'मैला आँचल' हिन्दी नवलेखनकी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति साबित हुआ है।

आंचलिक उपन्यासमें लोक-जीवनका एक तटस्थ परन्तु सहानुभूतिपूर्ण अंकन होता है। तटस्थताकी बात विशेष रूपसे इसलिए कही गई है कि यदि कथाकारने अपनी कृतिमें लोककी किसी भी प्रकारकी वकालत प्रारम्भ कर दी तो उसका सारा उन्मेष नष्ट हो जायगा। और लोक-जीवनका यह तत्त्व समूची रचनाका सबसे महत्त्वपूर्ण अंश होता है। यहां तक कि आंचलिक उपन्यासमें प्रायः कोई एक नायक या नायिका न होकर संपूर्ण लोक-जीवन ही कथाका प्रधान वर्ण्य हो जाता है। 'मैला आँचल'के सन्दर्भमें यह बात स्पष्टतासे समझी जा सकती है।

काव्यके क्षेत्रमें लोक-तत्त्वोंका प्रवेश शब्द-प्रयोगों तथा प्रतीकोंके माध्यम से हुआ है। कुछ नये कवियोंमें इस प्रकारके प्रयोग बड़े सफल ढंगसे मिलते हैं। गिरिजाकुमार माथुरका नाम इस दृष्टिसे विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। 'चंदिरमा' या 'ऐपन' जैसे शब्द एक अर्द्ध-विस्मृत भाव-बोधको जैसे फिरसे जाग्रत कर देते हों। लक्ष्मीकान्त वर्माने भी इस प्रकारकी शब्दावली ग्रहण की है, पर उनके शब्द प्रायः अपरिचित क्षेत्रोंसे लिये गये हैं। लोक-जीवनपर आधारित प्रतीकोंका प्रयोग तो अधिकांश नये कवियोंने किया है। कुछकी रचनाओंमें लोक-संगीतकी धुनोंका भी प्रयोग हुआ है।

'लोक-तत्त्व' शब्दसे दो प्रकारकी व्यंजनाएँ अलग-अलग ली जा सकती हैं। समूची संस्कृतिके सन्दर्भमें इससे गाँवोंके पिछड़े हुए जीवन-का बोध होता है, पर नागरिक सभ्यताके अन्तर्गत भी इस प्रकारके अविकसित और अर्द्धविकसित तत्त्वोंको देखा जा सकता है। नगरोंके इस निम्नवर्गीय जीवनकी झलक रघुवीरसहाय, मनोहरश्याम जोशी, श्रीराम वर्मा प्रभृतिकी कविताओंमें मिलती है, संवेदनाके स्तर पर भी और शब्द-समूहके चयनकी दृष्टिसे भी। रघुवीरसहायकी कविता 'हमारी हिन्दी' इस प्रवृत्तिका एक सफल नमूना है।

नाटकमें लोक-तत्त्वके प्रयोगकी सम्भावनाएँ अपेक्षाकृत अधिक हैं। इस क्षेत्रमें नव्य यथार्थवादने अपने आपको लोक-जीवनसे सदैव संपृक्त

रक्खा है। मध्यवर्गीय जीवनके चित्रणमें नागरिक लोक-संस्कृतिके पक्षों-को बड़े स्वाभाविक ढंगसे उभारा जा सकता है। लक्ष्मीनारायण लालके लघु नाटक 'मम्मी ठकुराइन'की भाव-भूमि कुछ-कुछ ऐसी ही है। कुछ अन्य स्फुट कृतियोंमें भी इस प्रकारके सफल चित्रण हुए हैं। भारतीकी कहानी 'गुलकी बन्नो' इस प्रसंगमें विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। आंचलिक कहानीके क्षेत्रमें तो विशेष रूपसे कार्य हो रहा है, वे प्रयोग बहुत अच्छे न हो सके हों, यह दूसरी बात है।

नव्य यथार्थवाद तथा लोक-जीवनका संपृक्त रूप नवलेखनकी मुख्य भावभूमि है। इस संयोगके आधारपर ही 'बूँद और समुद्र'के कुछ चरित्र पारस्परिक संवादमें गालियों तकका प्रयोग करते हैं जैसा कि सामान्य जीवनमें होता है। वस्तुतः उक्त दोनों प्रवृत्तियाँ एक-दूसरेको विकसित तथा परिष्कृत करती चलती हैं। नागरके कथोपकथनोंमें इसीलिए अश्लीलताका आरोप नहीं लगाया जा सकता। वे लोक-जीवनके इतने स्वाभाविक और अनिवार्य अंग हैं कि उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। नव्य यथार्थ-की व्यापक और संपृक्त दृष्टि समग्र चित्रणकी ओर रहती है; नवलेखन इस स्थितिको प्रारम्भसे स्वीकार करके चला है।

नये विकसित साहित्य-रूप

संवेदनाको नवीन दिशाओं और शिल्पके नये प्रयोगोंके कारण साहित्य-के परम्परागत काव्य-रूपोंमें भी विकास हुआ है। नवलेखनके कई काव्य-रूप ऐसे हैं जो पिछले कुछ वर्षोंमें ही स्वतन्त्र कलात्मक माध्यमोंके रूपमें गृहीत हुए हैं। इनके द्वारा प्रस्तुत साहित्य परिमाणकी दृष्टिसे अधिक भले ही न हो, पर इन नये काव्य-रूपोंका महत्त्व सम्भावनाओंकी दृष्टिसे काफ़ी अधिक है।

यात्रा-विवरणको अभीतक प्रायः सूचनात्मक माना जाता था। पर कुछ नये लेखकोंने इसे कृति साहित्यके एक विशिष्ट रूपकी तरह ग्रहण किया है। और इस दृष्टिसे यात्रा तथा संस्मरणका एक मिला-जुला रूप उभरा है। यात्रा-स्थलके विवरणोंके साथ-साथ अनेक चारित्रिक संवेदनाएँ इस नवीन काव्य-रूपमें देखनेको मिलती हैं। 'अरे यायावर रहेगा याद' (अज्ञेय), 'आखिरी चट्टानतक' (मोहन 'राकेश'), 'पार उतरि कहँ जइहौं' (प्रभाकर द्विवेदी) तथा 'हरी घाटी' (रघुवंश) यात्रा-संस्मरणकी इस नयी प्रणालीको अपनाते हैं, जिसमें यात्रा-विवरण, संस्मरण, स्केच तथा डायरी ये सभी काव्य-रूप घुल-मिल गये हैं। और इस तरहसे यात्रा-संस्मरणको उपयोगी साहित्यकी कोटिसे हटाकर अब ललित साहित्यके अन्तर्गत रख लिया गया है।

डायरी-शैलीमें भी कई तरहके विकास हुए हैं। डायरी लेखनको एक स्वतन्त्र कलाके रूपमें स्वीकार किया गया है और उसके माध्यमसे विभिन्न महत्त्वपूर्ण समस्याओंपर बड़े व्यक्तिगत ढंगसे विचार किया जाता है।

साहित्यकी सृजन-प्रक्रियासे सम्बद्ध डायरियोंके अंश इस दृष्टिसे अत्यन्त मूल्यवान हैं। अजितकुमार, लक्ष्मीकान्त वर्मा तथा शमशेरबहादुर सिंहकी डायरियाँ जीवनके विभिन्न पक्षोंको प्रस्तुत करती हैं। डायरीसे मिलते-जुलते रूप- 'नोटबुक' तथा 'जर्नल' के क्षेत्रमें भी कुछ विशिष्ट प्रयास किये गये हैं। इस प्रसंगमें अज्ञेय तथा रघुवीरसहायके नाम उल्लेखनीय हैं। व्यक्तिगत जीवनके ये लेखे-जोखे कृति साहित्यके प्रभावपूर्ण अंग बन गये हैं।

पश्चिमी साहित्योंमें आत्मकथाको एक स्वतन्त्र साहित्य-रूपकी भाँति प्रयुक्त किया गया है। विशेषतः साहित्यिकोंकी आत्मकथाएँ एक खास रचनात्मक प्रक्रियाकी ओर संकेत करती हैं। परन्तु हिन्दीमें अभी इस प्रकारकी आत्मविवृति कदाचित् सम्भव नहीं।

समीक्षाके क्षेत्रमें स्वतः लेखकों द्वारा प्रस्तुत अपनी रचनाओंकी व्याख्या एक नवीन पद्धतिके रूपमें प्रारम्भ हुई है। अपनी सारी कमजोरियोंके बावजूद यह पद्धति लेखककी सृजन-प्रक्रियाको समझानेमें सहायक सिद्ध होती है। पर व्याख्याकी यह शैली अभीतक केवल कविताओंके लिए प्रयुक्त हुई है। कथा-साहित्यके क्षेत्रमें इस पद्धतिकी सम्भावनाएँ कुछ और दूरतक पूरी हो सकती हैं।

साहित्यके मौखिक रूपका महत्त्व बढ़नेके कारण आकाशवाणीके साहित्यिक कार्यक्रमोंमें भी विविधता आई है। सव्याख्या काव्य-पाठ प्रमुखतः यहींसे आरम्भ हुआ। इसी प्रकारसे विभिन्न विद्वानोंके बीच परिसंवादकी प्रणाली आकाशवाणीने प्रारम्भ की, जिसे बादमें पत्र-पत्रिकाओंमें भी अपनाया गया। नये साहित्य-चिन्तनमें इस प्रकारके परिसंवादोंका विशेष योग रहा है। आकाशवाणीके माध्यमसे कुछ नयी नाट्य-शैलियोंका भी विकास हुआ है। काव्य-नाटक, एकालाप तथा ऑपेरा जैसे काव्य-रूप इस मौखिक माध्यममें आवश्यक परिष्कार पा सके हैं।

आकाशवाणीके अधिकाधिक विकासके फलस्वरूप साहित्यकी मौखिक प्रकृतिको पहिचाना गया है। आल्डस हक्सले जैसे विद्वान् तो भविष्यके साहित्यकी प्रकृति मौखिक ही मानते हैं। उनके अनुसार आगेका साहित्य प्रमुखतः टेप रिकार्डों तथा देरतक बजनेवाले रिकार्डोंपर प्रस्तुत होगा। हमारे देशमें यह सम्भावना मात्र सम्भावना ही है। किन्तु फिर भी साहित्यका मौखिक रूप लेखक और पाठकको एक-दूसरेके निकट ला देता है, इसे नया लेखक समझ सका है। और इसीलिए नयी कविताकी पाठ-शैलीकी ओर अधिकाधिक लोगोंका ध्यान गया है।

नवलेखनके तत्त्वावधानमें विकसित नये साहित्य-रूप आधुनिक साहित्यकी प्रकृतिके अनुकूल हैं। सूक्ष्म संवेदना और रागात्मक तटस्थताके तत्त्व उनमें अनिवार्य रूपसे मिलते हैं। बौद्धिकता उनमें आत्मीयता और अनौपचारिकताके साथ अपेक्षाकृत सहज बन गई है, इसीलिए नये साहित्यकी मूल बौद्धिक प्रवृत्तिके सन्दर्भमें ये नये सरल काव्य-रूप बहुत कुछ पूरक जैसे साबित होते हैं।

नवलेखन और सहकारी प्रकाशन

नवलेखनके युगमें एक ओर जहाँ प्रकाशनकी मात्रा पहलेकी अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गई है, वहीं दूसरी ओर बहुतसे लेखकोंके सम्मुख प्रकाशनकी एक समस्या भी रही है। सुरुचिपूर्ण साहित्यके पाठक वर्गकी कमी इस कठिनाईका मूल कारण है, और फिर नवलेखनके पाठक तो स्वभावतः और भी कम होंगे। इसके अतिरिक्त एकदम नये लेखकको प्रस्तुत करना प्रकाशकके साहसपर भी निर्भर करता है। नयी कविताके बहु-चर्चित होनेके बावजूद कवियोंको अपने व्यक्तिगत संकलन प्रकाशित करने की पर्याप्त सुविधा नहीं है। यहाँ स्मरणीय है कि नये साहित्यका प्रथम महत्त्वपूर्ण उन्मेष 'तारसप्तक' (१९४३) लेखकों द्वारा स्वतः प्रकाशित किया गया था। उसके बादके वर्षोंमें स्थितिमें कोई विशेष अन्तर नहीं आया है।

प्रकाशनकी इस कठिनाईका सामना करनेके लिए नये लेखकोंको सहकारी प्रकाशनका आश्रय लेना पड़ा है। मूलतः एक सहकारी प्रयास होनेके कारण नवलेखनके प्रकाशनको सहकारी ढंगसे चलाना स्वाभाविक भी है। 'तारसप्तक' सात कवियोंका सम्मिलित संकलन होनेके साथ-साथ सहकारी ढंगसे ही प्रकाशित किया गया था। इसके बाद 'दूसरा सप्तक' (१९५१) तथा अन्य कई पुस्तक-पत्रिकाएँ और संकलन इसी पद्धतिपर प्रकाशित हुए। इस सहकारी प्रकाशनकी आर्थिक चिन्ता करनेके बदले लेखकोंको यह सुविधा अवश्य थी कि अपने प्रकाशनमें अपना मत वे बिना किसी हिचकके निर्भीकतापूर्वक व्यक्त कर सकते थे। प्रकाशकीय नीतिसे समझौता करनेका

प्रश्न उनके सम्मुख नहीं था। नवलेखन जैसे साहसपूर्ण साहित्यिक-विचारात्मक उन्मेषके लिए यह सहकारी प्रकाशन, इस तरह, कई दृष्टियोंसे अनिवार्य था।

सहकारी संकलनोंके क्षेत्रमें प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रयास 'नयी कविता' (१९५४) का था। प्रयागके कुछ उत्साही नये लेखकोंने २५) प्रति व्यक्ति देकर प्रायः ५००) की पूँजीसे 'साहित्य-सहयोग'के तत्त्वावधानमें इस आयोजनका प्रारम्भ किया। कई प्रकारकी आर्थिक क्षतिके बावजूद उसका प्रकाशन अब तक चल रहा है। और यह स्पष्ट है कि यदि सहकारी प्रकाशनका यह उद्योग न हुआ होता तो 'नयी कविता' जैसी क्रान्तिकारी पत्रिकाका प्रकाशन हिन्दीमें असम्भव था। सच तो यह है कि एक नये साहित्यिक युगका सूत्रपात इस प्रकाशन-सहकारके द्वारा ही सम्भव हो सका है।

'नयी कविता'की सफलता और दिशा-निर्देशसे प्रोत्साहित होकर कई अन्य लेखक सहकार स्थापित हुए। सहकारी पद्धतिसे परिचालित संकलनोंमें लेखकोंकी रचनाएँ प्रायः बिना किसी पारिश्रमिकके अथवा केवल नाम मात्रके पारिश्रमिकपर उपलब्ध हो जाती रही हैं। सम्पादन-कार्य भी इसी तरह निःशुल्क रहा है। काग़ज़ और छपाईके व्ययको जुटाकर तथा किसी प्रकाशकसे वितरण-व्यवस्था कराके ही संकलन प्रकाशित कर लिये जाते हैं। सुदृढ़ आर्थिक आधारके अभावमें इन संकलनोंका जीवन-काल दीर्घ नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त नियमित प्रकाशनके न हो पानेसे ग्राहक-संख्या भी कम रहती है। इसीलिए प्रायः २-३ अंक निकालकर आयोजन समाप्त हो जाता है। इस समय नवलेखनके कई संकलन लेखकोंके सहकार द्वारा चल रहे हैं।

पर यदि व्यवस्थित ढंगके सहकारकी स्थापना हो सके तो यह नव प्रकाशन-विधि अधिक स्थायी और स्वतः निर्भर बनायी जा सकती है। और तब उत्कृष्ट नये साहित्यका ढंगसे प्रकाशन हो सकता है। शौकिया

पत्रकारोंकी संख्या अधिक बढ़ जानेसे सस्ती और छिछले स्तरकी पत्रकारिताको प्रोत्साहन मिलता है, जो अन्ततः साहित्यिक विकासके लिए हितकर सिद्ध नहीं होती। यहाँ यह स्मरणीय है कि सहकारी प्रकाशनको व्यवसायी प्रकाशकोंके विरोधमें नहीं, वरन् पूरक रूपमें स्वीकार किया जाना चाहिए।

व्यवस्थित हो जानेपर लेखकोंके सहकार, जो अब तक सम्मिलित संकलनोंको ही प्रकाशित करते रहे हैं, नये लेखकोंकी व्यक्तिगत रचनाओं-को भी छाप सकते हैं। उचित वितरण व्यवस्था हो जानेपर पुस्तकों तथा पत्रिकाओंको सुचारु रूपमें प्रकाशित किया जा सकता है और उन्हें उनके वास्तविक पाठकों तक पहुँचाया जा सकता है। नये लेखक तथा पाठकके बीचके व्यवधानको मिटानेके लिए सहकारी प्रकाशनके क्षेत्रमें काफ़ी सम्भावनाएँ हैं।

नवलेखनका मूल्यांकन

नवलेखनकी समीक्षा और मूल्यांकन सही परिप्रेक्ष्यमें कम हुआ है। लेखक और पाठकके बीचका व्यवधान लेखक और समीक्षकके बीच भी प्रतिफलित हुआ है। नवलेखनको लेकर समीक्षकोंकी दृष्टि निरुज नहीं रह सकी। कुछकी दृष्टिमें वह अमेरिकन प्रतिक्रियावादी शक्तियोंसे प्रेरित है, कुछकी दृष्टिमें वह निरर्थक प्रयोगोंसे चौंका देनेका प्रयास है और कुछके अनुसार वह मात्र शिल्प-प्रधान साहित्यिक आन्दोलन है। पर साहित्यके इतिहासके सन्दर्भमें इस नवोन्मेषका वास्तविक विवेचन और मूल्यांकन प्रायः नहीं हुआ।

आधुनिक कला पद्धतियोंको ठीक-ठीक न समझ पानेके कारण नये साहित्यके समीक्षक अपना संतुलन स्थिर नहीं रख सके हैं। यही कारण है कि नवलेखनके सम्बन्धमें चर्चा तो बहुत हुई है पर उसका ठीक ढंगसे व्याख्यात्मक अध्ययन नहीं हो सका है। स्वतः नये लेखकोंमें गम्भीर समीक्षक तथा साहित्य-चिन्तक हैं, पर इस धारासे हटकर किसी विशिष्ट आलोचक द्वारा नवलेखनकी प्रवृत्तियोंकी सही विश्लेषण नहीं हो सका। यह सही है कि नवलेखनके मिथ्या अनुकरण भी कम नहीं हुए पर अन्ततः यह उत्तरदायित्व तो मुख्यतः समीक्षकका ही था कि वह मिथ्याको वास्तविक से अलग करता। नवलेखनको एक सन्तुलित आलोचकका न मिलना स्वतः इस नवोन्मेषके लिए हानिप्रद सिद्ध हुआ है।

हिन्दी तथा अंग्रेज़ी दोनों माध्यमोंसे नवलेखनपर विचार हुआ है। नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशचन्द्र गुप्त तथा बालकृष्ण रावने नये साहित्यके

संबन्धमें कई दृष्टियोंसे अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। परन्तु रावको छोड़कर शेष दोनों समीक्षकोंके अपने पूर्व-निश्चित दृष्टिकोण हैं, और इसीलिए नवलेखनकी मौलिक प्रकृतिको वे ठीक-ठीक नहीं समझ सके हैं। यह भी सही है कि प्रयोगवादोत्तर साहित्यके संबन्धमें उन्होंने विशेष विचार नहीं किया है। वाजपेयी इस दिशामें यदि और आगे बढ़ते तो सम्भवतः कुछ अन्य प्रश्नोंपर विचार-विमर्श हो सकता।

पिछले कुछ वर्षोंमें नवलेखन संबन्धी समीक्षाएँ अंग्रेजीमें भी हुई हैं। बालकृष्ण राव, अज्ञेय तथा जितेन्द्रसिंहने 'लीडर' तथा कुछ अन्य अंग्रेजी पत्रोंमें प्रायः नियमित रूपसे नयी कृतियोंकी भाव-भूमिका विश्लेषण किया है। कुल मिलाकर यह मूल्यांकन अधिक वैज्ञानिक तथा सन्तुलित रहा है। इस तुलनामें हिन्दीके अपने समीक्षकोंमें आधुनिक दृष्टिकोणका अभाव खटकता है। बिना पूरा विश्लेषण किये ही नयेपनका तिरस्कार वे करते रहे हैं, और यही कारण है कि नवोन्मेषको वे आवश्यक सहानुभूति नहीं दे पाते। जितेन्द्रसिंहकी समीक्षाओंमें सहानुभूति और आलोचनाके तत्त्व एक सन्तुलन उत्पन्न कर सके हैं।

हिन्दीके कुछ पुराने कृति साहित्यकारोंने भी नवलेखनके संबन्धमें यत्र-तत्र अपने मत व्यक्त किये हैं। स्पष्ट ही उनके विचारोंकी पृष्ठ-भूमि ऐतिहासिक नहीं है। वे मुख्यतः अपनी रुचिके आधारपर नये साहित्यको परखना चाहते हैं। इस प्रसंगमें सुमित्रानन्दन पन्तका नाम एक महत्त्वपूर्ण अपवादके रूपमें लिया जा सकता है। पन्तने नये साहित्य, विशेषतः नयी कविताके संबन्धमें तात्त्विक और सन्तुलित विवेचन प्रस्तुत किया है।

कुल मिलाकर हिन्दीके विशिष्ट आलोचकोंने अपनी समझसे नवलेखन-का तिरस्कार किया है। समर्थ समीक्षक यदि इस नवोन्मेषको गम्भीरता-पूर्वक लेते तो हिन्दी साहित्यका समस्त वातावरण और अधिक आधुनिक हो सकता था। जिन छोटे-मोटे आलोचकोंने यह कार्य किया उनके पास साहित्यकी व्यापक दृष्टिका अभाव था। फलतः नवलेखनका विकास बहुत

कुछ उसके अपने समीक्षकोंके सहयोगसे हुआ है। पर आवश्यकता इस बातकी है कि इस साहित्यका अध्ययन अब कुछ ऊपर उठकर हो। ऐतिहासिक विकासवादी दृष्टि सहानुभूतिपूर्ण होनेके साथ-साथ निर्मम भी होती है। उसकी व्याख्याकी पृष्ठभूमिमें सहानुभूति है, पर निर्णयमें निर्ममता है। इस सम्पृक्त दृष्टिके सहारे ही नवलेखनका वास्तविक मूल्यांकन सम्भव है।

साहित्यकी डाइलैक्टिक्स और नवलेखन

इतिहासकी व्याख्याओंमें 'डाइलैक्टिक्स'के सिद्धान्तका काफ़ी मान है। यदि इस दृष्टिसे आधुनिक हिन्दी साहित्यके इतिहासको देखा जाए तो नव-लेखन सम्बन्धी कई भ्रान्तियाँ दूर हो सकती हैं। डाइलैक्टिक्सके अनुसार इतिहासका विकास तीन स्थितियोंमें होता है—वाद, प्रतिवाद तथा संवाद। वाद तथा प्रतिवाद अर्थात् प्रतिक्रियावादी तथा प्रगतिशील तत्त्वोंमें संघर्ष होता है, जिसके फलस्वरूप संवादकी उत्पत्ति होती है। कालान्तरमें यही संवाद फिर वादका रूप ग्रहण कर लेता है तथा फिर उसके लिए एक नया प्रतिवाद विकसित होता है, जिनके संघर्षका परिणाम एक नवीन संवाद होता है और इसी प्रकारसे इतिहास निरन्तर आगे बढ़ता रहता है।

हिन्दीकी नयी कविता तथा नवलेखनके विरोधमें बहुत-सी बातें कही जाती हैं। साधारणीकरण तथा संवेदनीयताकी समस्या उनमें प्रमुख है। यह सही है कि नवलेखनके विरोधियोंकी कई शिकायतें वास्तविक हैं। वे इस नवीन संवेदनासे उद्‌भूत साहित्यको नहीं समझ पाते, क्योंकि वह प्रतिवादका स्वर है। वस्तुतः साहित्यके विकासके लिए वाद भी उतना ही आवश्यक है जितना कि प्रतिवाद। इस दृष्टिसे नवलेखनके विरोधी एक ऐतिहासिक अनिवार्यता हैं। प्रतिवादके साथ वादका संघर्ष भी अवश्यक नहीं, अनिवार्य है। यदि वह संघर्ष नहीं होगा तो संवादकी परिस्थिति उत्पन्न नहीं होगी।

हिन्दी साहित्यके विभिन्न युगों भक्तिकाल, रीतिकाल, भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवादके विकासको इस डाइ-

लैक्टिक्सके सिद्धान्त द्वारा सहानुभूतिपूर्वक तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यमें देखा जा सकता है, और साथ ही यह समझा जा सकता है कि प्रत्येक आन्दोलनमें उसके नाशक तत्त्व भी साथ ही छिपे रहते हैं, जो कालान्तरमें विकसित होकर उस आन्दोलनके विघटनके कारण बनते हैं।

इतिहास-चक्रकी यह एक विशिष्टता है कि वह मानव-निर्मित होनेपर भी स्वतः चालित रहता है। परिस्थितियाँ मनुष्यको निर्मित करती हैं, और फिर मनुष्य ही उन परिस्थितियोंको नियंत्रित करता है। समाज तथा इतिहास व्यक्तिको बनाते हैं, और फिर व्यक्ति उनसे ऊपर उठकर उन्हें मोड़ता है। इनमेंसे किसने किसको पहले बनाया, यह तर्क-युद्ध उतना ही असंगत, अवैज्ञानिक तथा अनावश्यक है, जितना कि यह विवाद कि पहले मुर्गी उत्पन्न हुई या अण्डा।

हिन्दी नवलेखन अब धीरे-धीरे संवादात्मक स्वरमें परिणत हो रहा है। प्रगतिवाद छायावादके लिए प्रतिवाद था, पर प्रयोगवादके लिए वाद बन गया। और प्रगतिवाद तथा प्रयोगवादके संघर्षमें ही नवलेखनने जन्म लिया है। विरोधियोंको समझाने तथा तुष्ट करनेकी प्रक्रियामें संवाद विकसित होता है, और इस प्रक्रियाके खत्म होते न होते धीरे-धीरे वादमें परिणत हो जाता है। नवलेखनके संवादात्मक स्वरको कब तक स्थायी रक्खा जा सकेगा, यह भविष्यवाणी करना समीक्षकका कार्य नहीं है।

नवलेखनके विरुद्ध जो प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ हैं उनकी कुछ शिकायतें तथा कठिनाइयाँ वास्तविक और स्वाभाविक हैं। और साथ ही नये लेखकोंकी अपनी अन्तरात्मा तथा रचनात्मक प्रक्रियाके प्रति ईमानदारी भी उतनी ही वास्तविक है। कठिनाई केवल नये लेखकोंकी अग्रणी संवेदनाके कारण है। नये साहित्यके निर्माता अपने युगकी संवेदनासे आगे चलते हैं। वे समसामयिक न होकर अपनी प्रकृतिमें आधुनिक होते हैं, और आधुनिकता संस्कृतिके नवीन उन्मेषोंके प्रति यत्नज परन्तु अनिवार्य

एडजस्टमेंट है। अनिवार्य तथा अपरिहार्य होनेपर भी आधुनिकता सोद्यम लायी जाती है। यह इतिहास-चक्रको तेजीसे चलानेकी प्रक्रिया है। नवलेखन इसी व्यापक प्रक्रियाका एक अंग है।

अनुक्रमणिका

अजितकुमार ७६,७७,१७४,
१७५,१८५,१९३,२३४
अनन्तकुमार पाषाण ७७,७८
अमरकान्त १४०
अमृतराय ११३,१८४
अमृतलाल नागर ९८,११२,११८
१२०,१२१,१५४,१८९,२१५
२१७,२३०,२३२
अज्ञेय ४०,४१,४३–४६,४९,८२,
९६–९९,१०१,१०३,१०५,
१०६,१३८,१३९,१४३,१५४,
१५८,१६१,१६२,१७०,१७१,
१७५,१८२,१९१,१९३,१९६,
२०९,२१६,२१९,२२८,२३३,
२३४,२४०
इलाचन्द्र जोशी २०,९६,९७,१८९
उदयशंकर भट्ट ११८,२३०
उपेन्द्रनाथ 'अश्क' १८४
ओंकारनाथ श्रीवास्तव १४०
कमलेश्वर १३१,१३२,१३९
कुँवरनारायण ६९,७०,७१,८२
किशोरीलाल गोस्वामी ९६
कीर्ति चौधरी ७८
कुट्टिचातन् १७४
केदारनाथ सिंह ७८
केशवचन्द्र वर्मा १३१,१४०,१४१
केशवप्रसाद मिश्र १३९
कृष्णनारायण कक्कड़ १५८,२२४
कृष्णा सोबती १४०
गजानन माधव मुक्तिबोध ४०,७७
गिरिजाकुमार माथुर ४०,४४,५५,
५६,५७,१५०,१८६,१८७,२३१
गिरिधर गोपाल १०९,११३,११४,
१३२,१८९,१९७
जगदीश गुप्त ४१,६३,६४,६५,७१,
१५४,१५८,१६६,१८३
जगदीशचन्द्र माथुर ८२
जितेन्द्रसिंह २४०
जैनेन्द्र २०, ९६, १३८, १३९
दुष्यन्तकुमार ७०,७२,७३,७४
देवराज ९८,१०३,१०४,१०६,१४३,
१५४,१५६,१५७,१६०,१६१
देवीशंकर अवस्थी १८५

धर्मवीर भारती ४०,४१,४४,५७–६१,६३,६४,७१,८५,८८-९१,९३,९४,९८,१००,१०५,१०६,१०७,१३०,१५०,१५४,१५५,१५६,१५९,१६२,१६४,१६५,१६८,१८३,१८६,१८९,१९०,१९२,१९६,१९९,२०९,२१०,२१४-२१७,२१९,२२०,२२३,२२५,२३२
नन्ददुलारे वाजपेयी २३९,२४०
नरेश मेहता ४०,७६,१०५,१०७,१०८,१०९,१३२,१४२,१४६,१४७,१८७,१७९,१९०,१९७,१९९,२१५,२१६,२१७
नर्मदेश्वर प्रसाद १९०
नागार्जुन ११७, २१५,२१७,२३०
नामवरसिंह १५४,१५६,१५७,१६२,१६६
नित्यानन्द तिवारी ७०,७६
निराला २०
निर्गुण, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र १४०
नेमिचन्द्र जैन ४०
प्रकाशचन्द्र गुप्त २३९
प्रभाकर द्विवेदी १७४,२३३
प्रभाकर माचवे ४०,७७,९८,१३०,१३१,१४०,१७४,१९०,१९३
प्रयागनारायण त्रिपाठी ७८
प्रसाद १७,१४२
प्रेमचन्द १६,१७,३७,९७,१००,१०८,१३८,१३९,१९२,२१५
फणीश्वरनाथ 'रेणु' ११४,११५,११६,११७,१३९,१९२,१९३,२१५,२१७,२३०
बच्चन ४२
बालकृष्ण राव ७६,१५४,१८४,२३९,२४०
भवानीप्रसाद मिश्र ४०, ४४, ६७,६८,६९,१८७,१९३,२१९
भारतभूषण अग्रवाल ४०,७७,९८,१५०,१८६,१८७
भारती—देखो धर्मवीर भारती
मदन वात्स्यायन ७८,१९१
मनोहर श्याम जोशी ७०,७६,१३९,१९०,२३१
मन्नू भण्डारी १४०
मन्मथनाथ गुप्त ९८
मलयज ७८
मालती परुलकर १४०
मार्कण्डेय १३९
मुद्राराक्षस ७८,१४०,१५७
मोहन 'राकेश' १३९,१७१,१७३,२३३

रघुवंश ६४, १०९, १२२, १२३, १२४, १३२, १४०, १४३, १५४, १५६, १५९, १६२, १६३, १६४, १६८, १७३, १७४, १९९, २३३

रघुवीरसहाय ४०, ६५, ६६, १३९, १७५, १८९, १९०, १९३, २१०, २३१, २३४

रमानाथ अवस्थी १८७

रवीन्द्र भ्रमर ७८

रांगेय राघव ९८

राजनारायण बिसारिया १८७

राजेन्द्रकिशोर ७८

राजेन्द्र माथुर ७८

राजेन्द्र यादव १३९

डॉ० रामकुमार वर्मा १८६

रामचन्द्र तिवारी ९८

रामचन्द्र शुक्ल (आचार्य) १७, १५२, १८८

रामबहादुर सिंह 'मुक्त' ७७, १८५

रामविलास शर्मा ४०

रामस्वरूप चतुर्वेदी ४१, १८३, २००

रामावतार चेतन ७७

रेणु—द्र[illegible]वो फणीश्वरनाथ 'रेणु'

लक्ष्मीकान्त वर्मा ४१, ४४, ४६, ५१–५४, ७९, १२१, [illegible] १२५–१२८, १४८, १४९, १५३, १५४, १५६, १५८, १६५–१६८, १७४, १८३, १८६, १८९, १९१, १९३, १९९, २१५, २१७, २२४, २३१, २३४

लक्ष्मीचन्द्र जैन १७५

लक्ष्मीनारायणलाल ११०, १११, ११२, १३९, १४३, १४४, १५०, १८६, १८९, १९१, १९७, २३२

बसंतदेव ७७, १८५

विजयदेवनारायण साही ४१, ६४, ७८, १४४, १५६, १५९, १६२, १६५, १६६, १६८, १९९

विद्यानिवास मिश्र [illegible]

विपिन अग्रवाल ७८, ७९, १९१, १९३, २१०, २१९

विष्णु प्रभाकर ९८

व्रजेश्वर वर्मा ६४, १६८

शकुन्त माथुर ४०, ७८

शमशेरबहादुरसिंह ४०, ५३, ५४, ८२, १७५, २३४

शम्भूनाथसिंह ७६, १५४

शान्ता सिनहा ७८, १४०, १९०

शान्ति मेहरोत्रा १४०

शिवकुटीलाल ७०

शिवदानसिंह चौहान १५४, १५६, १५७, १५९, १६६, १६८

शिवप्रसादसिंह १३९

शिक्षार्थी १४१

शेखर जोशी १४०

श्यामसोहन श्रीवास्तव ७०,७६

श्रीनिवा[illegible], लाला [illegible]

श्रीकान्त वर्मा ७०

श्रीराम वर्मा ७०,७६,२३१

श्रीलाल शुक्ल १७५

श्रीहरि ७८

सतीशचन्द्र चौबे ७९

सत्येन्द्र शरत् १८७

सत्येन्द्र श्रीवास्तव ७८

स[illegible]श्वरदयाल सक्सेना ४४,४७,४८,
५०,५१,१२२,१२३,१३०,
१३३,१८७,१८९,१९१,
१९३,१९६,१९९,२१५,
२१९

सिद्धनाथ कुमार १५०,१८६

सुमित्रानन्दन पंत २०,२९,६०,७६,
१८६,१८७,२४०

सुरेन्द्र चतुर्वेदी १८५

सूर्यप्रताप सिंह ७९

सैयद शफ़ीउद्दीन १४०

हजारीप्रसाद द्विवेदी १५२

हरिमोहन ७८

हरिशंकर परसाई १४१

हरि व्यास ४०

हर्षनारायण १५७

लेखक

जन्म १९३१ ई० में कानपुरमें। प्रारम्भिक शिक्षा पैतृक गाँव कछपुरा (आगरा) में हुई। बी० ए० (१९५०) क्राइस्ट चर्च, कानपुरसे किया। एम०ए० (१९५२) की उपाधि प्रयाग विश्वविद्यालयसे प्राप्त की। १९५८ में वहींसे 'आगरा जिलेकी बोली' शीर्षक शोध-प्रबन्धपर डी० फ़िल०की उपाधि [illegible]।

'नये पत्ते' ([illegible]२) [illegible] कविता' (१९५४) का सम्पादन किया। प्रयाग विश्वविद्यालयके हिन्दी विभागमें १९५४ से सहायक प्रोफ़ेसर हैं। समीक्षा-सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों—वैचारिक साहित्य और भाषाशास्त्रमें विशेष रुचि है।

प्रकाशन—

शरत्‌के नारी-पात्र (१९५५)

हिन्दी साहित्य कोश (सम्पादित—१९५८)

आगरा जिलेकी बोली (शोध प्रबन्ध) यन्त्रस्थ